दर्शनाचार पर आधारित प्रवचन माला

शिलान्यास धर्म का

आचार्य महाश्रमण

शिलान्यास धर्म का

आचार्य महाश्रमण

जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूं

संपादक : साध्वी सुमतिप्रभा

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१
ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

षष्टम संस्करण : अगस्त २०१२

मूल्य : ३०/- (तीस रुपया मात्र)

मुद्रक : पायोराईट प्रिण्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर, ०२९४-२४१८४८२

मर्यादा महोत्सवकालीन आमेट प्रवास में अमृत महोत्सव के संदर्भ में दर्शनाचार प्रवचनमाला आयोजित की गई। उसमें निर्धारित विषयों पर मैंने वक्तव्य दिए। वक्तव्य के बाद प्रश्नोत्तर का क्रम भी चलता था। उन सबको संयोजित कर पुस्तक रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। उसके सम्पादन में साध्वी सुमतिप्रभा ने बहुत परिश्रम किया है। प्रस्तुत पुस्तक सम्यक्दर्शन के दर्शन के संदर्भ में पाठक को विशद जानकारी दे सकेगी तो प्रवचनमाला की अधिक सार्थकता हो सकेगी। शुभाशंसा।

आमेट (राज.) **आचार्य महाश्रमण**

अनुक्रम

१. सम्यक्त्व का दीया कैसे जले?	१
२. आदर्श कौन?	९
३. मार्गदर्शक कौन?	१९
४. मंजिल तक पहुंचाने वाला पथ	२४
५. सम्यक्त्व की पहचान	३३
६. सम्यक्त्व के दूषण	४२
७. इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं	५३
८. संघनिष्ठा का विकास	६२

१

सम्यक्त्व का दीया कैसे जले?

दर्शनाचार प्रवचनमाला के अन्तर्गत पहला विवेच्य विषय है—**सम्यक्त्व का दीया कैसे जले?** जलता हुआ दीपक आंखों को अच्छा लगता है। जब दीपावली का समय आता है, तब घरों आदि में दीये टिमटिमाने लगते हैं। उन टिमटिमाते दीयों की अवली का नाम है दीपावली। वह दीप पंक्ति कितनी शोभायमान प्रतीत होती है। अंधकार को भगाने के लिए दीपक की अपेक्षा होती है। अंधकार भगाने से नहीं भागता, दीपक जलाने से भाग जाता है। उजाला करना है तो दीया जलाना होगा। अंधेरे में एक दीया भी कितना काम का होता है। जब सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था, तब उसने मीटिंग बुलाई और कहा—मैं तो जा रहा हूं। मेरे पीछे प्रकाश फैलाने का कार्य कौन करेगा? सब मौन थे। एक छोटा-सा दीया आगे आया और बोला—भास्वर! आप जितना प्रकाश तो मैं नहीं कर सकता, पर आपकी अनुपस्थिति में मैं अंधेरे को कुछ कम करने का या दूर करने का प्रयास करूंगा।

सूर्य आज भी जाता है, किन्तु पीछे से दीये अब कम जलाए जाते हैं। आजकल तो ट्यूबलाईट आदि अनेक साधन हैं जिनसे अंधकार को दूर किया जाता है। यह तो बाहरी अंधकार है। भीतरी अंधकार है मिथ्यात्व का। दुनिया का कोई जीव ऐसा नहीं होगा जो कभी मिथ्यात्वी नहीं था। मुझे कोई व्यक्ति यह बता दे कि अमुक जीव कभी मिथ्यात्वी नहीं था, उस आदमी को मैं साधुवाद देना चाहूंगा। हमारे तत्त्वज्ञ संतजन हैं, साध्वियां हैं, समणियां है, कोई मुझे बता सके तो यह बताए कि अमुक प्राणी है जो कभी मिथ्यात्वी नहीं था, हमेशा सम्यक्त्वी ही था। मुझे तो आज तक कोई ऐसा प्राणी नहीं मिला जो

हमेशा से सम्यक्त्वी था। इसलिए यह कहना चाहिए कि हमारा मूल घर तो मिथ्यात्व है। सम्यक्त्व में आना मूल घर को छोड़ना है। सामान्य रूप में देखें तो हम अनादिकाल से मिथ्यात्वी रहे हैं। अंधकार की स्थिति में रहे हैं। उसमें दीया जलाने की अपेक्षा होती है। कई बार तो दीया कषाय के मंद होते-होते स्वयं जल जाता है और कई बार प्रयास के द्वारा भी सम्यक्त्व का दीया जलाया जा सकता है। अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क का उपशम, क्षय, क्षयोपशम नहीं होता है तो सम्यक्त्व की प्राप्ति संभव नहीं है। अनंतानुबंधी चतुष्क के उपशम होने से औपशमिक सम्यक्त्व, क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व, क्षयोपशम होने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। ये सम्यक्त्व के तीन मुख्य प्रकार हैं। दो प्रकार और हैं—सास्वादन सम्यक्त्व और वेदक सम्यक्त्व। कषाय का प्राबल्य सम्यक्त्व का शत्रु है, पलिमंथु है। एक आदमी के कोई वैमनस्य हो जाता है और वह बारह महीनों तक नहीं मिटता है, बारह मास तक भी वह गांठ नहीं खुलती है तो मानकर चलें कि सम्यक्त्व को खतरा है। इसलिए जब संवत्सरी का महापर्व आता है, तब खमतखामणा करके ग्रंथिमुक्त अर्थात् निर्ग्रन्थ होने का प्रयास करने की प्रेरणा दी जाती है कि अब तो संभलो। बारह महीनों तक खमतखामणा करने का मानस नहीं बनने से सम्यक्त्व गिर जाएगा। कहीं कोई व्यक्ति आसन पर बैठा हो और आसन को हटा दिया जाए तो उस पर बैठा व्यक्ति गिर जाता है। सम्यक्त्व को बनाए रखने के लिए कषाय मंदता यानी अनंतानुबंधी कषाय से मुक्त होना आवश्यक है। गुरुधारणा को स्वीकार करना भी व्यावहारिक रूप में सम्यक्त्वी बनने का प्रयास है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व है। वह हमेशा थी, वर्तमान में है और हमेशा रहेगी। आत्मा कभी अस्तित्वहीन नहीं बनती। उसमें पर्याय परिवर्तन होता रहता है। एक जन्म के बाद आत्मा दूसरा जन्म ग्रहण कर लेती है। यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक आत्मा मोक्ष को प्राप्त नहीं हो जाती है। इस जन्म-मरण के चक्र में प्राणी विभिन्न प्रकार के दुःख भोगता है। दुःख-मुक्ति के लिए अध्यात्म की साधना आवश्यक है। उसके लिए सम्यक् दर्शन (श्रद्धा) अनिवार्य है। उसका एक व्यावहारिक रूप है—गुरुधारणा। इसमें देव, गुरु और धर्म—इन तीनों को श्रद्धा के साथ स्वीकार

किया जाता है।

अरहंतो महदेवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं इय सम्मत्तं मए गहियं।।

अर्हत् मेरे देव हैं, शुद्ध साधु मेरे गुरु हैं और जिन प्रज्ञप्त धर्म मेरा तत्त्व है, यह सम्यक्त्व मैंने स्वीकार किया है।

मैं गुरुधारणा को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूं। हम गांव-गांव जाते हैं और गुरुधारणा करवाते हैं। उसमें श्रद्धा और व्रत दोनों का योग है। श्रद्धा को गाय की उपमा से उपमित किया जा सकता है। गाय इधर-उधर कहीं भी जा सकती है, किन्तु समझदार आदमी गाय को मजबूत खूंटे से बांध देता है। फिर गाय के इधर-उधर जाने का खतरा नहीं रहता। हमारी श्रद्धा रूपी गाय को ज्ञान के खूंटे से बांध देना चाहिए। वह ज्ञानयुक्त श्रद्धा मजबूत रह सकती है। भक्ति अच्छी है। भक्ति से मुक्ति का रास्ता प्रशस्त होता है। जो ज्ञानपूर्वक भक्ति होती है, उसका विशेष महत्त्व होता है।

गुरुधारणा भी एक तरह से श्रद्धा का धागा है। गुरु के प्रति आस्था हो जाती है तो वह आस्था भी आदमी को खतरे से बचा सकती है। हमारी गुरुधारणा में भी कुछ ऐसे नियम हैं जो जीवन को पवित्र बनाए रखने वाले हैं, जैसे—मैं नशा नहीं करूंगा। मैं आत्महत्या नहीं करूंगा, परहत्या नहीं करूंगा, भ्रूणहत्या नहीं करूंगा आदि। ये नियम आदमी को बचाने वाले होते हैं। संभवतः पूज्य कालूगणी के युग की बात है। एक गुजराती भाई था। उसने गुरुधारणा स्वीकार की। कालान्तर में किसी परिस्थितिवश वह आत्महत्या करने के लिए उद्यत हो गया। अचानक उसको याद आया कि गुरुदेव ने गुरुधारणा कराते समय मुझे आत्महत्या करने का त्याग करवाया था। उसने तत्काल अपना विचार बदल दिया।

पर्यावरण की समस्या का समाधान भी गुरुधारणा में होता है, जैसे—मैं हरे-भरे बड़े वृक्ष को जड़ से नहीं काटूंगा। यह बड़े पेड़ को जड़ से नहीं काटना कितना सुन्दर अहिंसा का संकल्प है। गुरुधारणा का एक नियम है—मैं संवत्सरी का उपवास/व्रत करूंगा। आदमी खाता तो प्रायः रोज है। कभी-कभी न खाने का अभ्यास भी करे। कोई उपवास न कर सके तो एकासन करे। एक नियम

है—नवकार मंत्र का जप करना। एक माला फेरना या कम से कम २१ बार नवकार मंत्र का पाठ करना। ये नियम आचरण के अंग हैं।

हमारी श्रद्धा परम आराध्य भगवान् महावीर स्वामी के प्रति है। हम अर्हत् के प्रतीक के रूप में भगवान् महावीर का नाम बताते हैं। यद्यपि एक प्रश्न पैदा होता है कि भगवान् महावीर वर्तमान में नहीं हैं। वे तो सिद्ध हो चुके हैं। वर्तमान में तो अर्हत् सीमंधर स्वामी हैं। किन्तु हमारी व्यवस्था ऐसी बनी हुई है कि हम भगवान् महावीर की अर्हत् अवस्था को ध्यान में लाते हुए या अर्हत् अवस्था के आधार पर आज भी उन्हें अर्हत् देव के रूप में स्वीकार करते हैं। आचार्य को गुरु के रूप में स्वीकार कराते हैं। जिनप्रज्ञप्त और उसमें भी हमारे यहां तेरापंथ धर्म स्वीकार करवाते हैं। यह गुरुधारणा है। मैंने परम पूज्य गुरुदेव तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के समय में देखा कि गुरुदेव के पास नई शादी करके जो जोड़े आते, उनको गुरुधारणा करवाई जाती। शादी का समय जीवन के विकास-क्रम का विशेष मोड़ का समय होता है। मैं तो शादी को गार्हस्थ्य की दीक्षा मानता हूं। शादी के बाद गुरुधारणा कर ली जाए और उसकी साधना की जाए तो जीवन का क्रम अच्छा रह सकता है।

प्रश्न होता है—अध्यात्म का पहला सोपान कौनसा है? सामान्य भाषा में तो अध्यात्म का पहला सोपान सम्यक्त्व है, परन्तु आचार्य भिक्षु के संदर्भ में देखूं तो मिथ्यात्व या मिथ्या दृष्टिकोण पहला सोपान है, क्योंकि मिथ्यात्वी की करणी को भी आराधक माना गया है। वह भी मोक्ष की ओर ले जाने वाली होती है। अगर सम्यक्त्व को पहला सोपान मान लेंगे तो मिथ्यात्वी की क्रिया को कौनसा सोपान मानेंगे? इसलिए तत्त्वविद्या के आधार पर और स्वामीजी के आधार पर मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को प्रथम सोपान मानना चाहिए। परन्तु मैं यह भी बताना चाहूंगा कि सम्यक्त्वी की तुलना में अगर मिथ्यात्वी की करणी को देखें तो वह बहुत छोटी हो जाती है। सम्यक्त्वी की जो करणी है उसकी तुलना में वही करणी कोई मिथ्यात्वी करता है तो उसका फल बहुत कम मिलता है।

तामली तापस ने साठ हजार वर्षों तक बेले-बेले की तपस्या की। अगर कोई सम्यक्त्वी इतनी तपस्या करता तो सात व्यक्ति मोक्ष में चले जाते।

क्योंकि तामली तापस मिथ्यात्वी था इसलिए उसको उतना लाभ नहीं मिला। हमें इस बात का मनन करना चाहिए कि मिथ्यात्वी की करणी आराधिका है, परन्तु सम्यक्त्वी की तुलना में उसका बहुत कम मूल्य होता है। इस बात को प्रज्ञापुरुष जयाचार्य ने बहुत सुन्दर तरीके से बताया कि सम्यक्त्व के बिना हमने अनंत बार चारित्र की साधना की होगी, किन्तु हमें मोक्ष नहीं मिला। अभी हमें सम्यक्त्व और चारित्र दोनों प्राप्त हैं। हम बड़े भागी हैं। अब यदि हम समता के साथ वेदना आदि को सहन करेंगे तो हमें सवाया लाभ मिल सकेगा। सम्यक्त्व शून्य आचार का अल्प मूल्य है और सम्यक्त्व युक्त आचार का बहुत बड़ा मूल्य होता है।

जन-जन में या जहां उचित हो वहां हम बात करें और सम्यक्त्व का दीया जलाने का अभ्यास करें। कषाय किसका कितना मंद है यह तो निर्णय करना कठिन है। निश्चय में केवली भगवान जानें, परन्तु व्यावहारिक सम्यक्त्व के रूप को बताने का, धराने का प्रयास करें। सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद निश्चित रूप से कभी न कभी हमें मोक्ष प्राप्त हो सकेगा।

प्रश्न : दो शब्द आते हैं, सुलभबोधि और सम्यक्त्वी। किस ज्ञान को प्राप्त कर व्यक्ति सुलभबोधि बनता है और किस ज्ञान को प्राप्त कर वह सम्यक्त्वी बनता है। दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर : शब्द से ही स्पष्ट होता है कि सुलभबोधि यानी अब तक बोधि मिली नहीं है, किन्तु बोधि सुलभ हो गई है। आमेट में आहार पानी सुलभ है पर गोचरी गए बिना आहार नहीं मिलेगा। जाओगे तब वह प्राप्त होगा। इसी तरह सुलभ बोधि के लिए बोधि की प्राप्ति आसान है, सुलभ है, किन्तु अब तक उसे प्राप्त हुई नहीं है। ज्योंही तत्त्वज्ञान आदि का योग बनता है, कषाय मान्द्य का योग साथ में हो जाता है और देव, गुरु, धर्म पर श्रद्धा हो जाती है तो जो सुलभबोधि था, वह सुलब्ध बोधि बन जाता है। शब्द में अन्तर है, एक सुलभ बोधि है और दूसरा सुलब्ध बोधि है। सुलब्ध बोधि तो सम्यक्त्वी होता है और सुलभबोधि वह होता है, जिसे सम्यक्त्व नहीं मिली है, परन्तु जिसका परिणाम अच्छा है। उसके लिए सम्यक्त्व की प्राप्ति काफी

आसान है।

प्रश्न : सम्यक्त्व के लिए कोई प्रयास किया जाना चाहिए या बिना प्रयास ही प्राप्त हो सकता है? नैश्चयिक सम्यक्त्व को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है?

उत्तर : नैश्चयिक सम्यक्त्व के लिए भी प्रयास मान्य है। हम कषाय मन्दता का प्रयास करें, अनुप्रेक्षा करें, अभ्यास करें तो कषाय मन्द होगा। जब अनंतानुबंधी से छुटकारा मिल जाएगा तो नैश्चयिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाएगी और प्रयत्न यदि प्रबल हो तो क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति भी हो सकती है। हम रामभरोसे न बैठें कि अपने आप हो जाएगा। हमें अपना पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। अनंतानुबंधी से मुक्ति मिल जाए तो फिर आगे अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी चतुष्क से मुक्ति पाने के लिए भी प्रयास करना चाहिए।

प्रश्न : प्रतिपाती सम्यक्दृष्टि कौन होता है?

उत्तर : सम्यक्त्व को प्राप्त करके उसे खो देने वाले प्राणी को प्रतिपाती सम्यक् दृष्टि कहा जा सकता है।

प्रश्न : क्षायिक सम्यक्त्वी सात प्रकृतियों का क्षय करता है और उपशम सम्यक्त्वी उनका उपशम करता है। तो फिर क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी कितनी प्रकृतियों का क्षय और कितनी प्रकृतियों का उपशम करता है?

उत्तर : सातों का ही क्षय और उपशम करता है।

प्रश्न : सम्यक्त्वी के लिए बताया जाता है कि सात प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम होना अनिवार्य है, वहां यह भी कहा जाता है कि नौ तत्त्वों का सही रूप में ज्ञान होना भी अनिवार्य है। यह भी कहा जाता है कि देव, गुरु और धर्म के प्रति आस्था होना भी सम्यक्त्व के लिए अनिवार्य है। सम्यक्त्व के लिए मूलतः क्या अनिवार्य है?

उत्तर : अनंतानुबंधी कषाय और दर्शन त्रिक का विलय तो पहली शर्त है।

उसके बिना तो वास्तव में सम्यक्त्व का स्पर्श हो ही नहीं सकता। अब उससे जुड़ी हुई बात है—देव, गुरु, धर्म के प्रति श्रद्धा होना। व्यवहार में यह कहना कठिन है कि वास्तव में सम्यक्त्वी कौन है? हमने व्यावहारिक परिभाषा बना रखी है कि जिसकी देव, गुरु और धर्म के प्रति आस्था है और जो नौ तत्त्वों को समझता है, वह सम्यक्त्वी है। व्यावहारिक कसौटियों के आधार पर हम उसे सम्यक्त्वी कह सकते हैं।

प्रश्न : आचार्यश्री ने फरमाया कि कषाय की मंदता सम्यक्त्व का आधार बनती है। क्या हम अनुकम्पा की चेतना को भी सम्यक्त्व का पैरामीटर बना सकते हैं?

उत्तर : हां, अनुकम्पा को भी सम्यक्त्व का पैरामीटर बना सकते हैं, क्योंकि सम्यक्त्व के पांच लक्षणों में एक लक्षण है—अनुकम्पा।

प्रश्न : किसी व्यक्ति का कषाय तो मन्द नहीं है, किन्तु उसका अनुकम्पा भाव बहुत प्रबल है। क्या हम उसे सम्यक्त्वी मान सकते हैं?

उत्तर : अनुकम्पा है तो कषाय मन्द होगा ही। कषाय मन्दता के अभाव में अनुकम्पामय नहीं बना जा सकता।

प्रश्न : मिथ्यात्व हमारा मूल घर रहा है। दूसरी तरफ हम कहते हैं कि सिद्धि और संसार दोनों शाश्वत हैं और दोनों अनादि पारिणामिक भाव हैं। सिद्धि सम्यक्त्व के बिना प्राप्त नहीं हो सकती। तो क्या कुछ जीव अनादिकाल से सम्यक्त्वी हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता?

उत्तर : नहीं, ऐसा कोई जीव नहीं है, जो हमेशा सम्यक्त्वी था। भले वह सिद्ध हो या संसारी। वह कभी न कभी मिथ्यात्वी अवश्य रहा है। सिद्धि को अनादि कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि उसकी आदि का कथन नहीं किया जा सकता। एक जीव की अपेक्षा से मुक्ति सादि है, अतः सम्यक्त्व भी सादि है।

प्रश्न : फिर सिद्ध अनादि कैसे होंगे?

उत्तर : सिद्ध अनादि है, वह सुचिर काल की अपेक्षा से कहा जाता है। ऐसी कोई आत्मा नहीं है जो कभी संसार में थी ही नहीं और जिसने कभी जन्म-मरण किया ही नहीं।

प्रश्न : सिद्ध की आदि हम नहीं निकाल सकते। इसलिए अनादि है या केवलज्ञानी भी उसकी आदि नहीं बता सकते, इसलिए अनादि है?

उत्तर : केवलज्ञानी भी सिद्ध की आदि नहीं देख सकते। सिद्ध जीव भी कभी न कभी तो जन्म-मरण वाला ही था। पातंजलयोग का एक सिद्धांत है—अनादि ईश्वर। पातंजलयोग के उस अनादि ईश्वर शब्द से तो हमारी बात मिल जाती है। किन्तु हम अर्थ में जाएं तो जहां तक मैं समझ पाया हूं कि ऐसा कोई जीव नहीं है जो हमेशा मोक्ष में ही था, कभी संसार में नहीं था।

प्रश्न : जब जीव कभी संसार में था और फिर कभी सिद्ध बना तो फिर सिद्धि का अनादि पारिणामिक भाव कैसे सिद्ध होगा?

उत्तर : जहां अनादि पारिणामिक भाव की चर्चा होती है, वहां सिद्ध का उल्लेख नहीं मिलता। वहां दस बोल कहे जाते हैं—छह द्रव्य, लोक, अलोक, भवी और अभवी।

प्रश्न : जब अंधकार (मिथ्यात्व) शाश्वत है और प्रकाश (सम्यक्त्व) के लिए प्रयत्न करना पड़ता है तो फिर हम शाश्वत में ही रहें, प्रयत्न क्यों करें?

उत्तर : प्रयत्न की आवश्यकता तो सब जगह रहती है। चाहे योजना बनानी हो, चाहे भोजन करना हो, चाहे कहीं जाना हो। बिना प्रयत्न के कार्य संपन्न नहीं होता। मिथ्यात्व भी प्रयत्न से समाप्त हो सकता है। वास्तव में शाश्वत तो क्षायिक सम्यक्त्व ही है। वह एक बार आ गई तो फिर वापिस नहीं जा सकती। हमें तो वह पाना है, जो आने के बाद वापिस नहीं जाता और वह है क्षायिक सम्यक्त्व।

२

आदर्श कौन ?

दर्शनाचार प्रवचनमाला के अन्तर्गत दूसरा विवेच्य विषय है—**आदर्श कौन ?** आदर्श वही होना चाहिए, जो अपने से कुछ ऊंचा हो। अपने से नीचा या अपने समान है, उसको आदर्श बनाने की अपेक्षा नहीं है। जहां हमें पहुंचना अभीष्ट है, उसे आदर्श के रूप में देखना चाहिए। हमें पहुंचना मोक्ष में है, वह हमारा लक्ष्य है। मन में विचार यह आ रहा है कि आदर्श तो सिद्ध भगवान् होने चाहिए। सबसे ऊंचा आदर्श तो मुक्त आत्मा परमात्मा ही हो सकता है। ऐसे सामान्यतया कहा गया है—**आदर्शोऽत्र जिनेन्द्र आप्तपुरुषः।** जिनेन्द्र भगवान्, अर्हत् भगवान् हमारे आदर्श हैं। हमारी दृश्य दुनिया में अर्हत् भगवान् से बड़ा कोई नहीं है। सिद्ध को तो देखा नहीं जा सकता, अर्हत् को देखा जा सकता है। सबसे बड़ा कोई आदमी है तो अर्हत् है, क्योंकि अर्हत् में आध्यात्मिकता और भौतिकता का संगम होता है। भौतिकता की दृष्टि से चक्रवर्ती भी बड़ा आदमी होता है। त्रिषष्टिशलाकापुरुष को भी बड़ा आदमी माना जा सकता है, किन्तु आध्यात्मिक संपदा की दृष्टि से चक्रवर्ती बड़ा आदमी नहीं होता। तीर्थंकर अध्यात्म जगत् का शिरोमणि पुरुष होता है। अध्यात्म के जगत् में तीर्थंकर से बढ़कर कोई आदमी नहीं होता है। धर्म के संपूर्ण अधिकृत व्याख्याकार कोई हैं तो अर्हत् हैं। उनसे बड़ा और कोई नहीं हैं। तीर्थंकर का मतलब ही है प्रवचनकार।

साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करने से भी वे तीर्थंकर कहलाते हैं। तो क्या हमें भी तीर्थंकर बनने की कामना करनी चाहिए? मैं तो यह कहना चाहूंगा कि तीर्थंकर नाम कर्म की प्रकृति की भी

वांछा नहीं करनी चाहिए। वह पुण्य की प्रकृति है और पुण्य की वांछा साधक को नहीं करनी चाहिए। प्रश्न हो सकता है कि अर्हत् और तीर्थंकर हमारे आदर्श कैसे बन सकते हैं? सिद्ध आत्माएं संपूर्णतया विशुद्ध होती हैं। फिर वे हमारा आदर्श क्यों नहीं बन सकती? मेरे से आशातना तो न हो जाए, पर मैं यह कहना चाहूंगा कि तीर्थंकर की आत्मा पूर्ण शुद्ध नहीं होती है। संपूर्ण शुद्ध आत्मा सिद्धों की होती है। तीर्थंकर भी संसारी और हम भी संसारी। संसारी जीवों के दो वर्गीकरण हैं—सिद्ध और संसारी। तीर्थंकर सिद्ध तो हैं नहीं। हम जन्म-मृत्यु करने वाले हैं और तीर्थंकर भी मृत्यु को प्राप्त होने वाले हैं, इसलिए वे तो हमारे साथ हैं। हम संसारी अवस्था के प्राणी हैं और वे भी संसारी हैं। फिर भी अन्तर बहुत बड़ा है। हम तो तीर्थंकरों के चरणों के नख की बराबरी भी नहीं कर सकते। वे तो पूर्ण वीतराग पुरुष हैं। तीर्थंकर का भौतिक स्वरूप वांछनीय नहीं है। तीर्थंकरों की वीतरागता वांछनीय है। जैसे तीर्थंकर वीतराग होते हैं, वैसे हम भी वीतराग बनें और जैसे तीर्थंकर प्रवचन करते हैं, वैसे हम भी अच्छा प्रवचन करने के अधिकारी बनें, परन्तु पुण्य प्रकृति की वांछा न करें।

हमारे मुनिवर, साध्वीवृंद, समण-समणियां बैठे हैं। उनके सामने मैंने एक विचार रखा है कि एक अपेक्षा से सिद्ध को आदर्श क्यों नहीं माना जा सकता? अर्हत् को देव के रूप में माना गया है। देवता दिव्य-शक्ति संपन्न होते हैं और अर्हत् हमारे आराध्य हैं। अर्हत् को इतना महत्त्व क्यों दिया गया है? इसका कारण हमारा स्वार्थ भाव है, क्योंकि जिससे स्वार्थ की सिद्धि होती है उसे ज्यादा महत्त्व दिया जाता है। यह सामान्य-सा नियम है, भले साधु संस्था को देख लें, भले गृहस्थ लोगों को देख लें। जिस आदमी से स्वार्थ की सिद्धि होती है, उस आदमी को अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह कोई इतनी बुरी बात भी नहीं है। जो कोई हमारे काम आए, उसके प्रति विशेष भाव हो भी सकता है।

हमें धर्म का बोध देने वाले अर्हत् हैं। सिद्ध भगवान् तो हमें कोई बात बताते नहीं हैं और न हमें प्रवचन सुनाते हैं। हमारे स्वार्थ की सिद्धि तो अर्हतों से होती है, इसलिए हमने अर्हत् को ज्यादा महत्त्व दिया है। नमस्कार महामंत्र

में भी अर्हत् को पहले नमस्कार किया गया है और सिद्धों को नम्बर दो का स्थान दिया गया है। संसार में तो स्वार्थ से मुक्ति मिलना कठिन है। अध्यात्म-जगत् में भी किसी अंश में स्वार्थ से मुक्ति मिलना मुश्किल है। कुल मिलाकर वीतराग को आदर्श-रूप में स्वीकार किया गया, देव-रूप में स्वीकार किया गया। हमारी दुनिया में देववाद चलता है। मैं जगह-जगह जाता हूं, घरों आदि में जाता हूं तो लोग कहते हैं कि हमारे घर में जहां देवस्थान है, वहां पधारिए। आमेट के अपने इष्टदेव हैं। अनेक व्यक्तियों के भैंरुजी, माताजी आदि इष्ट होते हैं। मेरा ऐसा मंतव्य है कि किसी भी देवता की आशातना नहीं करनी चाहिए, अवहेलना नहीं करनी चाहिए, अवमानना नहीं करनी चाहिए। देव जगत् भी सृष्टि का एक अंग है। जैसे हम अंग हैं, वैसे वे भी अंग हैं। हम उनकी अवहेलना क्यों करें ? परन्तु आस्था तो अपनी जगह होनी चाहिए। धर्म की दृष्टि से विचार करें तो अर्हतों के प्रति आस्था हो, भगवान् महावीर के प्रति आस्था हो। भगवती सूत्र में बात आती है कि श्रावक का यह वैशिष्ट्य होता है कि वह कष्ट में भी देवी-देवताओं की वांछा नहीं करता। बहुत ऊंची बात है कि कष्ट आ जाए तो भी लौकिक देवी-देवताओं से याचना न करे। कोई विशिष्ट श्रावक होता है, साधुओं में भी कोई हो सकता है, जो कठिनाई आने पर भी लौकिक देवी-देवताओं के सहयोग की वांछा नहीं करता। यह निश्चित है कि जितने पाप-कर्म बंध हुए हैं, हमें उतना कष्ट तो भोगना ही पड़ेगा। उससे ज्यादा हमें कष्ट नहीं मिलेगा। फिर सहयोग की कामना क्यों करें। कुछ सहन करने का माद्धा रखें और यों कोई सहयोग लेना भी बुरी बात नहीं है। लोग जगह-जगह जाते हैं, मंदिरों में जाते हैं, सिरियारी भी जाते हैं। संभव है लोगों के मन में कोई कामना भी होती है। सिरियारी जाने वालों के मन में भी कोई कामना हो सकती है। तीन कामनाएं होती हैं—उत्तम कामना, मध्यम कामना और अधम कामना।

उत्तम कामना है—मेरा राग-द्वेष कम हो जाए, मेरी साधना अच्छी चले, मैं कर्म-निर्जरा और संयम की अच्छी साधना करूं, मैं वृद्धों की सेवा कर सकूं, ऐसी शक्ति मेरे में रहे।

मध्यम कामना है—जैसे कोई गृहस्थ चुनाव के समय सोचता है कि मैं चुनाव में जीत जाऊं। देवी-देवताओं के वहां इसलिए जाता है कि चुनाव में मेरी फतह हो जाए। हमारे पास कई बार लोग आते हैं कि चुनाव में खड़ा होना है, पहले आप मंगलपाठ सुनाओ ताकि मैं जीत जाऊं। मेरे मन में विचार आता है कि दो उम्मीदवार खड़े हुए हैं। यदि हमारा मंगलपाठ एक को जीताने के लिए है तो दूसरे को हराने के लिए होगा। हम तो मंगलपाठ इसलिए सुनाते हैं कि जहां भी रहो, नैतिकता से रहो। कोई आदमी आकर यह कहे कि आप हमारा सहयोग करें। आपका थोड़ा-सा हिन्ट मिल जाए तो हमें अमुक पार्टी से टिकट मिल जाएगी। किसको टिकट मिले, कौन जीते, कौन हारे, इसमें साधु को नहीं पड़ना चाहिए। मुझे पैसा मिल जाए, मुझे संतान मिल जाए आदि न उत्तम कोटि की कामना है और न अधम कोटि की कामना है। यह मध्यम कोटि की कामना है।

अधम कामना है—अमुक का अनिष्ट हो जाए, उसका व्यापार नष्ट हो जाए, उसका शरीर खराब हो जाए, उसके परिवार में वैमनस्य हो जाए, उसके परिवार में झगड़ा हो जाए। इस तरह की भावना रखना, प्रयास करना अधम कामना है।

हमारे जो देव हैं, वे वीतरागता की बात बताने वाले हैं। वे स्वयं वीतराग हैं, उनके चिन्तन से, उनके स्मरण से वीतरागता की प्रेरणा मिले, यह हमें अभीष्ट है। आज का विषय है—आदर्श कौन? आदर्श का मतलब है कांच, दर्पण। दर्पण को आदर्श कहा जाता है यानी **आदृश्यते यस्मिन्** जिसमें स्वयं को देखा जाए, वह आदर्श होता है। हमारी यह सामान्य परम्परा है कि साधु को कांच में मुंह नहीं देखना। लोच आदि के विशेष प्रसंग की बात अलग है। न पानी में अपना मुंह देखने का प्रयास करना चाहिए। हम जहां ठहरते हैं, वहां कोई कांच लगा हुआ होता है तो मैं साधुओं से कहा करता हूं कि इस पर कोई आवरण लगा दो ताकि बार-बार हमें हमारा मुंह देखने को न मिले। साधु तो अविभूषा का साधक होता है। उसको तो कांच में मुंह देखना ही नहीं चाहिए। मैं कैसा हूं? इसका निर्णय कांच के माध्यम से किया जाता है। मेरा चेहरा कैसा लग रहा है? बाल व्यवस्थित हैं या अव्यवस्थित हैं? यह जानकारी हमें कांच

में देखने से मिल सकती है। गृहस्थ तो अपना चेहरा कांच में देखते ही होंगे, पर साधुओं के लिए यह करणीय नहीं है।

हमारे आदर्श अर्हत् हैं। वे वीतराग हैं। मेरे में वीतरागता उतनी है या नहीं, इसका अंकन करने का मौका अर्हत् और सिद्धों के आधार पर मिल सकता है। हमारे अनेक साधु-साध्वियां, समण-समणियां अनेक महापुरुषों की जीवनियां पढ़ते होंगे। महापुरुष की जीवनी को पढ़ने से हमें व्याख्यान की सामग्री मिल सकती है। यह अच्छी बात है, किन्तु हमारे लिए और ज्यादा अच्छी बात यह है कि हम उन्हें आदर्श के रूप में देखें। वह महापुरुष ऐसा हुआ है, हमारे वे आचार्य ऐसे हुए हैं तो मेरी स्थिति क्या है, क्या मैं वैसा हूं या मेरे में कमी है ? अगर मेरे में कमी है तो क्या मैं वैसा बनने का प्रयास नहीं कर सकता ? इस प्रकार हमें स्वयं की स्थिति का आकलन करने का प्रयास भी यदा-कदा करना चाहिए।

परमपूज्य मघवागणी को आदर्श बनाया जा सकता है चूंकि वे वीतरागकल्प थे। इसी प्रकार अन्य किसी महान् व्यक्ति को अपना आदर्श बनाया जा सकता है। अर्हत् वह आत्मा होती है, जो चार घाती कर्मों से मुक्त होती है। हालांकि चार घाती कर्मों से मुक्त तो केवली भी होता है। केवली और अर्हत् में काफी समानता है, किन्तु यह अन्तर भी है कि केवली तो मूक यानी न बोलने वाला भी हो सकता है, परन्तु तीर्थंकर तो प्रवचन करने वाले प्रवक्ता होते हैं, इसलिए हम यह आदर्श बना लें कि हम वीतराग भी बनें और प्रवचन भी करें। इन सारे संदर्भों में अर्हत् उपकार करने वाले होते हैं और हम भी उपकार करने वाले बनें।

सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि वीतरागता सिद्धों में भी होती है, वीतरागता अर्हत् में भी होती है, वीतरागता केवली में भी होती है और वीतरागता बारहवें गुणस्थान में भी होती है। ग्यारहवें गुणस्थान वाली वीतरागता कोई ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह तो वापिस गिरने वाली स्थिति है। ग्यारहवां गुणस्थान तो बंद गली के समान है। जैसे, बंद गली में जाने के बाद लौटना पड़ता है। वहां से आगे बढ़ने का अवकाश नहीं रहता। वैसे ही ग्यारहवें गुणस्थान से तो नीचे गिरना ही पड़ेगा, अन्य कोई उपाय नहीं है। इस

संदर्भ में हमें ग्यारहवें गुणस्थान की साधना न करके बारहवें गुणस्थान में जाने की साधना करनी चाहिए। उपशमश्रेणी को न लेकर हमें क्षपकश्रेणी लेने की कामना करनी चाहिए। अर्हत् क्षपकश्रेणी के मार्ग से आगे बढ़ने वाले दिव्य पुरुष होते हैं, वीतराग पुरुष होते हैं। हम भी अपने आदर्श के अनुरूप वीतराग बनने का प्रयास करें।

प्रश्न : आचार्यप्रवर ने फरमाया कि अर्हत् के स्मरण में भी एक दृष्टि से स्वार्थ भावना है? मेरा प्रश्न यह है कि वह स्वार्थ भावना है या परमार्थ भावना है?

उत्तर : स्वार्थ के भी अनेक प्रकार होते हैं। एक तुच्छ स्वार्थ होता है और एक बहुत परिष्कृत स्वार्थ होता है। यदि शब्द की गहराई में जाएं तो स्व का मतलब है अपना और अर्थ का मतलब है प्रयोजन। अर्थात् जहां अपना प्रयोजन सिद्ध होता है, अपना कल्याण होता है, वह स्वार्थ है और वह स्वार्थ भी परमार्थ की कोटि का ही होता है, इसलिए यहां स्वार्थ और परमार्थ में काफी समानता या काफी निकटता प्रतीत होती है। मैंने अर्हत्-स्मरण में स्वार्थ की बात इसलिए कही थी कि हमारा प्रयोजन तो अर्हतों से ही सिद्ध होता है। सिद्ध हमारे उपकारी नहीं हैं। प्रश्न हो सकता है कि नवकार मंत्र में अर्हत् को पहला स्थान क्यों दिया गया? सिद्ध तो उनसे भी बड़े हैं, फिर भी पहला स्थान उनको नहीं दिया गया। इसका समाधान यह हो सकता है कि सिद्ध कौन हैं, इसकी जानकारी भी हमें अर्हत् ही देते हैं। अर्हत् से साध्वाचार मिलता है, अर्हतों से हमें मार्गदर्शन मिलता है। चूंकि अर्हत् हमारे उपकारी हैं, इसलिए उनका स्मरण स्वार्थ भावना से प्रेरित कहा जा सकता है।

प्रश्न : क्या वह स्वार्थ परमार्थ की कोटि में आ जाता है?

उत्तर : हां, कुछ स्वार्थ परमार्थ की कोटि में आ जाता है।

प्रश्न : आचार्यवर ने फरमाया कि देवस्थान आदि में जाने के पीछे एक लक्ष्य कामनापूर्ति का होता है। कामनापूर्ति स्थानविशेष में जाने से ही होती है या घर बैठे भी हो सकती

है ? यदि स्थान विशेष से इसका सम्बन्ध नहीं है तो सिरियारी आदि में भौतिक लक्ष्य के साथ कोई जाता है, वह क्या है ?

उत्तर : पहली बात यह है कि साधना कहीं पर भी हो सकती है। भले घर में बैठकर कर लो, भले महल में कर लो, भले मन्दिर में कर लो, भले श्मशान में जाकर साधना कर लो। आचार्य भिक्षु तो छतरी में विराजे थे। वहां भी साधना हो सकती है। दूसरी बात यह है कि कुछ-कुछ स्थान किसी व्यक्ति विशेष से जुड़े होते हैं। जैसे कई गृहस्थों के घरों में पितरजी आदि का स्थान होता है। घर के लोग उस स्थान पर जाकर दीया-धूप, पूजा आदि करते हैं। क्योंकि उनके स्थापित स्थान पर जाकर पूजा-अर्चना करने से वह सही ढंग से हो सकती है। इसी तरह हमारे जो आचार्यों के स्थान हैं, भले समाधिस्थल हैं या और कोई स्थान हैं। उस स्थान पर जाने से हमें उस स्थान विशेष का प्रसंग भी सहज स्मृति में आने की संभावना रहती है। उस स्थान के साथ उनका कुछ संबंध भी रहा है, इसलिए वह स्थान स्थापित कर दिया जाता है। आम आदमी इतना प्रखर नहीं होता है कि हर कहीं साधना कर ले। किसी स्थान का महत्त्व होता है तो वहां व्यक्ति ज्यादा रुचि से चले जाते हैं, इन सबके बावजूद भी मैं कहना चाहूंगा कि सिरियारी में बिना गए भी साधना हो सकती है। हम लोग इस तेरापंथ-भवन में बैठे-बैठे ही भिक्षु स्वामी की आराधना कर सकते हैं, जप कर सकते हैं। सिरियारी कौन कितना जाता है ? हम लोग तो दूर-दूर यात्राओं में जाते हैं। हर साल सिरियारी जा सकें, हमारे लिए तो असंभव बात है, इसलिए हम तो जहां रहें, वहीं साधना करें। एक दूसरा कारण और है, उसे मैं थोड़ा बताना चाहूंगा। मुझे ऐसा लगता है कि परम पूज्य गुरुदेव तुलसी के समय में देववाद चलता था। आज भी चलता है। धार्मिक लोग विभिन्न देवों के पास जाते हैं। संभवतः गुरुदेव तुलसी ने सोचा कि इस प्रकार तो इनकी आस्था विकेन्द्रित हो जाएगी। ऐसा कोई स्थान इनको बता दें जहां जाने से ये मूल परम्परा से दूर भी न हों और इनको कहीं जाने का मौका भी मिल जाए। गुरुदेव तुलसी ने श्रावकों को सिरियारी के खूंटे से बांधने

का प्रयास किया। उन्होंने सोचा कि एक खूंटे से बांध देंगे तो आस्था और कहीं नहीं भटकेगी। वह तेरापंथ में रहेगी, जैनधर्म में रहेगी, आचार्यों के प्रति रहेगी। विकेन्द्रित आस्था होने की संभावना थी, उसे केन्द्रित करने का प्रयास किया गया।

प्रश्न : वर्तमान में हमारा स्वार्थ आचार्यों के द्वारा सिद्ध होता है चूंकि अर्हतों के विषय में भी हमें आचार्य ही बताते हैं, तो क्या हम अर्हत् और सिद्ध से भी ऊपर आचार्य को स्वीकार कर सकते हैं?

उत्तर : पिता का महत्त्व है, किन्तु दादा का भी अपना महत्त्व है। धर्माचार्य हमारे पिता तुल्य होते हैं और अर्हत् उनके भी पिता होते हैं, इसलिए पिता का भी सम्मान करना चाहिए और दादा का भी सम्मान करना चाहिए।

प्रश्न : तीर्थंकर गोत्र का बंध जीवन में एक बार ही होता है या दलिक रूप में अनेक बार हो सकता है?

उत्तर : निर्णायक रूप में तो तीर्थंकर गोत्र का बंध एक ही बार होता है। दलिक रूप में वह बंधता रहता है।

प्रश्न : क्या मिथ्यात्व अवस्था में दलिक रूप में तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है?

उत्तर : ऐसा कर्म ग्रन्थ वाले तो नहीं मानते, किन्तु टीकाओं में ऐसा कई जगह आता है कि मिथ्यात्व अवस्था में भी तीर्थंकर प्रकृति का दलिक रूप में बंध होता है।

प्रश्न : क्षपकश्रेणी की कामना उपयुक्त मानी गई है तो बार-बार यह क्यों कहा जाता है कि कषायों का उपशमन करो?

उत्तर : वर्तमान में जो हमारी साधना पद्धति है, उसमें न तो उपशमश्रेणी आने वाली है और न ही क्षपकश्रेणी आने वाली है। कषाय को उपशम करने की बात कषायों को शान्त करने की दृष्टि से है, उपशमश्रेणी

की दृष्टि से नहीं। उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी की तो बात आगे की है।

प्रश्न : आपने फरमाया कि तीर्थंकर बनने की कामना नहीं करनी चाहिए, लेकिन यह निश्चित है कि तीर्थंकर बनने के बाद सिद्ध बनेंगे ही, फिर उसकी कामना अवांछनीय क्यों है?

उत्तर : कामना करो केवली बनने की, क्योंकि केवलज्ञानी बनने से भी हमें सिद्धि मिल जाएगी। मूल बात है कि तीर्थंकर बनना पुण्य प्रकृति है और हमें पुण्य की कामना नहीं करनी चाहिए।

प्रश्न : तीर्थंकर प्रवचन करते हैं, हमें मार्ग दिखाने वाले होते हैं जबकि केवली तो मूक भी हो सकते हैं फिर तीर्थंकर बनने की कामना क्यों नहीं करनी चाहिए?

उत्तर : तीर्थंकर के जो अतिशय होते हैं, वे पुण्य प्रकृति के उदय से होते हैं। हमें उस पुण्य-प्रकृति की वांछा नहीं करनी चाहिए। हमें निरवद्य कार्य करने की, निरवद्य सेवा करने की, वीतराग बनने की कामना करनी चाहिए।

प्रश्न : केवलज्ञानी किस पद में आते हैं?

उत्तर : केवलज्ञानी पांचवें पद में आते हैं। अगर वे आचार्य पद पर हैं तो तीसरे पद में आएंगे। गुरुदेव तुलसी के शासनकाल में केवली को तीसरे पद में माना जाता था। फिर चिन्तनपूर्वक यह निर्णय किया गया कि केवलज्ञानी मुनि भी पांचवें पद में ही आएंगे। यदि आचार्य छद्मस्थ हैं और कोई मुनि केवली है तो भी आचार्य एक दृष्टि से बड़े हैं। वे तीसरे पद में रहेंगे और केवली मुनि पांचवें पद में।

प्रश्न : ऐसा सुना गया है कि श्रावक में सम्यक्त्व का होना जरूरी है और उसके साथ-साथ बारह व्रतों, नौ तत्त्वों और छह द्रव्यों की जानकारी भी आवश्यक है। किन्तु जिसमें ये सब बातें नहीं है और जो साधु-साध्वियों के संपर्क में भी नहीं आया है। वह मात्र इतना जानता है कि मैं जैन हूं, तो क्या उसे भी श्रावक माना जा सकता है?

उत्तर : श्रावक कई तरह के होते हैं। संस्कृत व्याकरण के अनुसार श्रावक का निरुक्त है—**शृणोति इति श्रावकः** अर्थात् जो सुनता है वह श्रावक होता है। फिर प्रश्न होगा कि वह क्या सुने? उत्तर होगा कि जो धर्म के प्रवचन को सुनता है, वह श्रावक होता है। इस परिभाषा के अनुसार जिसमें सम्यक्त्व नहीं है, परन्तु जो सुलभबोधि है, साधुओं के पास आता है, सुनता है, तेरापंथी या जैन परिवार का है, हम उसे भी श्रावक कह सकते हैं।

३

मार्गदर्शक कौन ?

दर्शनाचार प्रवचनमाला के अन्तर्गत तीसरा विवेच्य विषय है—**मार्गदर्शक कौन ?**

सबसे पहले यह निर्धारित होना चाहिए कि हमारी मंजिल क्या है ? जब तक हमारा गन्तव्य ही सुनिश्चित नहीं होता है, तब तक न तो मार्ग की अपेक्षा है और न ही मार्गदर्शक की। एक यात्री स्टेशन पर गया और टिकट मास्टर से कहा—मुझे टिकट दो।

टिकट मास्टर—कहां की टिकट दूं ?

यात्री—मेरे ससुराल का टिकट दे दो।

टिकट मास्टर—तुम्हारा ससुराल कहां है ?

यात्री—यह तो मुझे पता नहीं।

जिसे अपना गंतव्य ही पता नहीं है, वह कैसे यात्रा कर पाएगा ? हमें अपने जीवन में लक्ष्य निर्धारण पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अर्हत् या सिद्ध हमारे आदर्श हैं। इसका मतलब है कि वीतरागता हमारा मुख्य लक्ष्य है। हमें वीतरागता की पूर्णता तक पहुंचना है। वहां तक जाने के लिए हमें मार्ग का चुनाव करना होगा। लक्ष्य सही हो, मार्ग सही हो और मार्गदर्शक अच्छा हो तो मंजिल की प्राप्ति हो सकती है। गुरुधारणा में तीनों चीजें आ जाती हैं—देव अथात् अर्हत् या सिद्ध हमारा लक्ष्य है। उसका मार्ग है धर्म की साधना और मार्गदर्शन करने वाले गुरु होते हैं। इस दुनिया में गुरु का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि जहां हमें पहुंचना है, उसका रास्ता बताने वाले गुरु होते हैं। हमारे धर्मसंघ में

दस आचार्य हुए हैं। आठ के बारे में तो मैंने पढ़ा है या सुना है या कुछ मनन किया है, किन्तु दो आचार्यवरों को तो मैंने आंखों से देखा है। हमें परमाराध्य आचार्य तुलसी गुरु के रूप में प्राप्त हुए थे। उनके मार्गदर्शन में अनेक लोगों ने अपने जीवन की दिशा बदली। अनेक साधु-साध्वियों और लोगों को परमपूज्य गुरुदेव श्री तुलसी से साधना के विकास का निदर्शन और पथदर्शन प्राप्त हुआ। हम इस मायने में भाग्यशाली हैं कि हमें गुरुदेव तुलसी के उपपात में, साये में रहने का मौका मिला। हमारे धर्मसंघ में आचार्य के दो रूप होते हैं। एक गुरु का और दूसरा शास्ता का। उन्हें दोनों दायित्व निभाने होते हैं। शिष्यों के विकास के लिए, श्रावक समाज के विकास के लिए गुरु की भूमिका अदा करना आवश्यक है तो संघ की सुव्यवस्था के लिए शास्ता का दायित्व निभाना भी आवश्यक होता है।

उनके बाद परमपूज्य आचार्य महाप्रज्ञजी हमें गुरु के रूप में मिले, मार्गदर्शक के रूप में मिले। हमने देखा कि वे किस प्रकार शिष्यों का मार्गदर्शन करते थे और उनकी साधना का पथ प्रशस्त करते थे। अनेक लोगों को उनके प्रवचन के माध्यम से, साहित्य के माध्यम से पथदर्शन प्राप्त करने का मौका मिला।

गुरु का काम होता है शिष्यों का पथदर्शन करना। एक बाल मुनि को कैसे समझाना, एक प्रबुद्ध मुनि को कैसे समझाना, अबुद्ध को कैसे समझाना, इसमें गुरु निपुण होते हैं। उनके समझाने का तरीका विलक्षण होता है। गुरुदेव तुलसी संभवतः जोधपुर में विराजमान थे। एक भाई आया और उसने गुरुदेव तुलसी से पूछा कि हमारा बच्चा गुम हो गया, उसको खोजूं या नहीं? गुरुदेव ने कहा—बच्चा कहां जाएगा। वह इधर-उधर ही कहीं मिल जाएगा। फिर पूछा—बच्चे को खोजूं तो धर्म होगा या पाप? तब गुरुदेव ने सोचा कि यह तो अटकाना चाहता है। गुरुदेव ने कहा—आज हमें पूछने आए हो कि बच्चे को खोजूं तो धर्म होगा या पाप। जब बच्चे को पैदा किया था, तब तुमने क्यों नहीं पूछा कि बच्चा पैदा करूं या नहीं। इसमें धर्म होगा या पाप? प्रश्नकर्ता मौन हो गया। किस समय किसको कैसे उत्तर देना यह व्यक्ति की प्रबुद्धता होती है। तत्त्व को समझने की दृष्टि से आए हुए आदमी को कैसे समझाना और बात को

अटकाने के लिए आए हुए आदमी को कैसे समझाना, यह गुरु की अपनी गुरुता होती है या होनी चाहिए। गुरु का काम है ज्ञान देना, पथदर्शन करना।

प्रश्न हुआ—गुरु कौन होता है ? समाधान मिला—शुद्ध साधु गुरु होता है। ऐसे तो सब शुद्ध साधु गुरु हैं, किन्तु हमारी परम्परा में आचार्य को गुरु का स्थान दिया गया है। आचार्य तीर्थंकर के प्रतिनिधि होते हैं और साधु-संस्था के प्रतिनिधि भी आचार्य होते हैं। तेरापंथ में आचार्य को बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है। हमारे यहां एक घोष बोला जाता है—

तेरापंथ की क्या पहचान ?
एक गुरु और एक विधान।।

गुरु पर शिष्यों को तैयार करने का जिम्मा होता है और मेरे ख्याल में तेरापंथ के आचार्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जिम्मा या दायित्व होता है अपनी प्रतिकृति के रूप में किसी को नियुक्त कर देना, मनोनीत कर देना। जब तक अपनी प्रतिकृति को तैयार नहीं किया जाता है, तब तक एक विशेष कार्य अवशेष की सूची में रहता है। हमारे धर्मसंघ में प्रायः जागरुकता रही है कि भावी व्यवस्था यथासमय हो जाए। परम पूज्य माणकगणी की एक घटना तो है, जहां उत्तराधिकारी का मनोनयन नहीं किया जा सका। मात्र ४२-४३ वर्ष की अवस्था में आगे की व्यवस्था करना आचार्यवर को कुछ अटपटा लग रहा था। खैर, जो नियति को मंजूर था वही हुआ। वे अपनी प्रतिकृति को दिए बिना ही पधार गए।

गुरु और शिष्य का एक अपना आत्मीय संबंध होता है अथवा होना चाहिए। गुरु के प्रति कभी दुराव नहीं होना चाहिए। हमारे धर्मसंघ में तो सबसे पहला संबंध किसी के साथ है तो वह गुरु के साथ है या संघ के साथ है। गुरु संघ के ही प्रतीक हैं। व्यक्ति सब बाद में हैं। हमारे साधु-साध्वियों की तो यह भाषा ही है कि हमने गुरु के भरोसे घर छोड़ा है और वास्तव में सब गुरु के बाद में ही रहने चाहिए। एक अग्रणी भी बाद में होता है। सबसे पहले अपना कोई है तो गुरु है। संघ पहले नम्बर पर है। आज से लगभग तीस वर्ष पहले जयपुर में छह साधु थे। उनमें से पांच अलग हो गए। एक जिनेशकुमारजी ने यह दृढ़ता रखी कि मैं संघ का हूं और संघ में ही रहूंगा। वे उन पांचों के साथ नहीं

हुए। उन्होंने संघीय आस्था या गुरु आस्था का परिचय दिया और एक तरह से गुरु को महत्त्व दिया। यदि व्यक्तियों को मुख्य मान ले और गुरु को गौण कर दे तो आदमी किसी के साथ भी जा सकता है। पर हमारी आस्था का केन्द्र संघ और गुरु होना चाहिए। आचार्य सोमप्रभ सूरि ने कहा—

अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्तते, प्रवर्तयत्यन्यजनं च निःस्पृहः।
स एव सेव्यः स्वहितैषिणा गुरुः, स्वयं तरंस्तारयितुं क्षमः परम्।।

अपना हित चाहने वाले शिष्यों के द्वारा वे गुरु सेवनीय होते हैं, जो स्वयं निरवद्य मार्ग पर चलते हैं और बिना किसी स्वार्थ के दूसरों को भी उस मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं, जो स्वयं का कल्याण करते हुए दूसरों का कल्याण करने में सक्षम होते हैं।

बस का ड्राईवर अगर अंधा है और उसमें बैठने वाले यात्री चक्षुष्मान हैं तो वह अंधा ड्राईवर यात्रियों को कहां ले जाएगा और कहां दुर्घटना हो जाएगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। जिस बस में यात्री सारे अंधे हैं पर ड्राईवर चक्षुष्मान् है, जागरूक है तो वह सौ अंधों को भी किसी अच्छी जगह पर अथवा यथास्थान ले जा सकता है। जो ड्राईविंग करने वाला है, नेतृत्व करना वाला है, उसे जागरूक रहना चाहिए ताकि वह साथ वालों को सही जगह पर ले जा सके।

गुरु अथवा आचार्य एक ड्राईवर के समान होते हैं। संघ को हम हवाई जहाज मानें तो आचार्य उसके पायलट होते हैं। संघ को बस मानें तो आचार्य उसके ड्राईवर होते हैं। पायलट और ड्राईवर का बड़ा महत्त्व होता है। यात्री उस समय उनकी शरण में होते हैं। शिष्य भी संघ और गुरु की शरण में होते हैं। यद्यपि मेरा तो यह मानना है कि गुरु या आचार्य से भी बड़ा संघ है। शासन सबसे बड़ा है। आचार्य भी बाद में हैं, शासन पहले है। हम सब जिनशासन की शरण में हैं और उसमें भी हम लोग भैक्षव शासन की शरण में हैं। गुरु हमें तारने वाले होते हैं। इसलिए उनका भी विशेष महत्त्व होता है, क्योंकि वे हमारा पथदर्शन करते हैं। गुरुदेव तुलसी ने सुन्दर कहा है—

धरमाचारज मुझ तारो,
मैं लीन्हो शरण तुम्हारो।
है और न कोई चारो।।
भवसागर है अथग अमित जल, नहिं है निकट किनारो।
जबर ज्वार रै झोलां मांहि, बीत्यो जाय जमारो।।

सामान्य रूप में एक सदाचारी गृहस्थ भी जो ज्ञान देने वाला होता है या कुछ बताने वाला होता है, वह भी गुरु माना गया है। एक अक्षर का ज्ञान देने वाला भी गुरु होता है। शासन महास्तंभ हेमराजजी स्वामी, जीतमलजी स्वामी के विद्यागुरु थे। श्रीमद् जयाचार्य ने उनके बारे में बहुत कुछ लिखा है। एक जगह उन्होंने लिखा है—मैं बिन्दु था उन्होंने मुझे सिन्धु के समान बना दिया। अपने विद्यागुरु के प्रति उनके मन में कितना सम्मान का भाव था। हमें भी जिनसे मार्गदर्शन मिले, उनके प्रति हमारे मन में भी सम्मान का भाव रहना चाहिए। मुख्य रूप से गुरु ही मार्गदर्शक होते हैं। आदमी को योग्य गुरु प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए और योग्य गुरु के पथदर्शन में आगे बढ़ना, गति करना उसका लक्ष्य रहना चाहिए।

४

मंजिल तक पहुंचाने वाला पथ

दर्शनाचार प्रवचनमाला के अन्तर्गत चौथा विवेच्य विषय है—**मंजिल तक पहुंचाने वाला पथ।** मंजिल निश्चित होने और मार्गदर्शक मिलने के बाद अपेक्षा है मार्ग पर चलने की। प्रश्न होता है—मार्ग कैसा होना चाहिए? मार्ग अच्छा हो तो ठीक है। यदि मार्ग अच्छा न भी हो, किन्तु मंजिल उसी मार्ग से मिलने वाली है तो हमें फिर ऊबड़-खाबड़ रास्ते से भी चलना चाहिए। मार्ग है, पर आदमी उस पर चले नहीं तो मंजिल तक कैसे पहुंचेगा? मार्ग भी है, मार्ग बताने वाला भी है, मंजिल भी निश्चित है, परन्तु गति नहीं होती है तो गंतव्य नहीं मिल सकता। आदमी में चलने का पुरुषार्थ होना आवश्यक है।

मंद गति से चलने वाली चींटी यदि चलती रहती है तो वह सैंकड़ों योजन की दूरी पार कर देती है और बहुत शीघ्र गति से चलने वाला गरुड़ यदि नहीं चलता है तो वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। गति तेज है या मंद, इसकी अपेक्षा गति है या नहीं, यह ज्यादा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कहीं तीव्र गति अच्छी होती है तो कहीं मंद गति भी अच्छी होती है। पथिक जा रहा था। सामने से आते हुए ऊंटसवार से पूछा—मैं अगले गांव कितने समय में पहुंच जाऊंगा? आगन्तुक भाई बोला—धीरे-धीरे चलोगे तो शाम तक पहुंच जाओगे। तेज गति से चलोगे तो नहीं पहुंचोगे। उत्तर थोड़ा अटपटा था। राहगीर तेज गति से चला, रास्ता ऊबड़-खाबड़ था। वह गिर गया, चोट आ गई, आगे बढ़ना मुश्किल हो गया। धीरे-धीरे चलने का अपना महत्त्व है। अंग्रेजी भाषा का सूक्त है—Slow and Steady wins the race. धीमी

गति से चलें पर गति में स्थायित्व होना चाहिए।

एक व्यक्ति को व्यापार हेतु अपने गांव से दूसरे गांव जाना था, किन्तु रास्ते की सही जानकारी न होने के कारण वह विपरीत दिशा में चलने लगा। ४-५ किलोमीटर पहुंचने पर पता चला कि वह अपनी मंजिल के नजदीक पहुंचने की बजाय, उससे और दूर हो गया है।

हम सब चलते हैं, किन्तु चलने से पहले यह निश्चित होना चाहिए कि हमारा गन्तव्य कौनसा है? पथ कौनसा है? यदि पथ सही है तो चलते-चलते एक दिन अवश्य ही मंजिल तक पहुंचा जा सकता है।

प्रश्न हुआ, वह पथ कौनसा है, जो हमें मंजिल तक ले जा सकता है। समाधान मिला—वीतराग जिनेश्वर द्वारा प्रज्ञप्त जो तत्त्व है, वही धर्म है और वही पथ है।

भगवान् ने समता को धर्म कहा है। धर्म का एक ही प्रकार बताना हो तो वह समता धर्म है। धर्म के दो प्रकार बताने हों तो संवर और निर्जरा को बताया जा सकता है। धर्म के दो प्रकार ये भी किये जाते हैं—अगार धर्म और अनगार धर्म। एक गृहस्थ का धर्म और दूसरा साधु का धर्म। धर्म तो एक ही है, किन्तु साधना की दृष्टि से उसके दो विभाग किए गए हैं। साधु और श्रावक दोनों ही रत्नों की मालाएं हैं। तेरापंथ साहित्य में सुन्दर कहा गया—

साध नै श्रावक रतनां री माला, एक मोटी दूजी नान्हीं रे।
गुण गूंथ्या च्यारूं तीरथ नां, इवरत रह गई कानी रे।।
चतुर विचार करी नै देखो।।

साधु भी रत्नों की माला है और श्रावक भी रत्नों की माला है। अन्तर केवल इतना ही है कि साधु बड़ी माला है और श्रावक छोटी माला है। श्रावक के जो भी गुण हैं, जो त्याग है, धर्म है, वह रत्नों की माला है। धर्म के तीन प्रकार भी किए जा सकते हैं—अहिंसा, संयम, और तप। धर्म के चार प्रकार भी किए जा सकते हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। धर्म के पांच प्रकार हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। धर्म के दस प्रकार भी किए

जा सकते हैं—क्षांति, मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य। एक धर्म को अनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है और अनेक रूपों में उसे समझा जा सकता है। धर्म का सारांश यह है—समता, समभाव, राग-द्वेष-मुक्ति और वीतरागता का अभ्यास।

दर्शनाचार के अन्तर्गत देव के विषय में बताया गया है कि हमारे देव अर्हत् हैं, क्योंकि वे वीतराग हैं। शुद्ध साधु हमारे गुरु हैं, क्योंकि वे वीतरागता के साधक हैं और हमारा धर्म वीतरागता है। देव, गुरु, धर्म—तीनों की समुच्चय में कोई एक आत्मा है तो वह है—वीतरागता। नवकार मंत्र की आत्मा भी वीतरागता है।

- अर्हत् वीतराग हैं।
- सिद्ध वीतराग हैं।
- आचार्य वीतराग अथवा वीतराग धर्म का नेतृत्व करने वाले हैं।
- उपाध्याय वीतराग वाणी के अध्येता होते हैं।
- साधु वीतराग अथवा वीतरागता के साधक होते हैं।

नवकार मंत्र से अगर वीतरागता को अलग कर दिया जाए तो वह जड़वत् हो जाएगा। शरणसूत्र में भी अर्हत्, सिद्ध, साधु और केवली प्रज्ञप्त धर्म को मंगल, लोक में उत्तम और शरणदाता माना है।

धर्म का सारभूत तत्त्व अथवा धर्म का हृदय है वीतरागता। हमें अर्हत् जैसे देव मिले हैं, शुद्ध साधु जैसे गुरु मिले हैं और केवली प्रज्ञप्त धर्म मिला है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम वीतरागता को आत्मसात् करने का प्रयास करें। चाहे साधु हो या गृहस्थ हो, वीतरागता की साधना सभी के लिए करणीय है, आचारणीय है और अनुष्ठेय है। वीतरागता की साधना की जाती है तो धर्म की आराधना स्वतः हो जाती है। हमारे साधु-साध्वियां और समणश्रेणी आत्मसमीक्षण करे कि हमारे में वीतरागता का विकास कितना हुआ है? हम साथ में रहते हैं, कभी तनाव होता है क्या? हमें कभी आवेश आता है क्या? अगर आवेश आता है तो यह मानना चाहिए कि अभी साधना करने की अपेक्षा है। मैं अमुक स्थान पर हूं, मैं इतना ज्ञानी हूं, मैं इतना तपस्वी हूं, इन सब बातों

को लेकर हमारे मन में अहंकार आता है क्या? हम कभी छलना, माया, वंचना का प्रयोग करते हैं क्या? हम सरलता के साथ बात करते हैं या वंचनापूर्ण भाषा का प्रयोग करते हैं?

पूज्य कालूगणी के समय की बात है। विहार हो रहा था। कुछ साधु स्थान रोकने के लिए आगे चले जाते थे। उस समय किसी संत ने एक स्थान रोका। दूसरे संत भी उधर आने लगे, तब पहले वाले संत ने सोचा, ये यहां न रह जाएं, इसलिए थोड़ी वंचनापूर्ण भाषा का प्रयोग करते हुए कहा–'संता! अठै मती रो।' संतों ने सोचा, पूज्य कालूगणी का आदेश जारी हुआ होगा। गुरुदेव का जो आदेश है, वह शिरोधार्य है। वे वहां से अन्यत्र चले गए। बाद में पता चला कि कालूगणी ने वहां रहने के लिए किसी को निषेध नहीं किया था। तब उन सन्तों ने उस मुनि से पूछा कि तुमने यहां रहने के लिए हमें निषेध क्यों किया? उस मुनि ने कहा–मैंने आपको यहां रहने के लिए निषेध कब किया था? मैंने तो यह कहा था कि 'संता! अठै मतीरो' अर्थात् संतों, यहां मतीरा (एक हरा फल) है। शब्द के अर्थ में कितना अन्तर आ गया।

हम चिन्तन करें, हमारे भीतर बाह्य पदार्थों के प्रति ज्यादा आकर्षण तो नहीं है? जैसे, हमें अच्छी घड़ी चाहिए, अच्छा पैन चाहिए, अच्छा कपड़ा चाहिए आदि। उपयोगिता के आधार पर वस्तुओं का ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु उन बाह्य पदार्थों के प्रति आकर्षण की भावना नहीं होनी चाहिए। हमें अपने जीवन में धर्म का सघन अभ्यास करना चाहिए। हमारे साधु-साध्वियों व समणश्रेणी को इस बात पर यदाकदा चिन्तन करते रहना चाहिए कि साधना का विकास कैसे हो सकता है? सारे साधु-साध्वियां तेरापंथ दर्शन के प्रवक्ता बन जाएं, साहित्यकार बन जाएं प्रेक्षाध्यान और जीवन विज्ञान के विशेषज्ञ बन जाएं, यह तो कठिन है। साध्वी कल्पलताजी की तरह हर साध्वी पात्री पर नाम दे दे, संभव नहीं है। सबमें अपनी-अपनी विशेषताएं होती हैं। सब हर कार्य में माहिर नहीं हो सकते, पर साधना में सबको माहिर होने का प्रयास करना चाहिए, भले वृद्ध हैं, युवा हैं, बाल हैं। हम सभी को साधना के विकास का प्रयास करना चाहिए। साधना का विकास करने के लिए और वीतरागता का पथ प्रशस्त करने के लिए हम आगम साहित्य एवं ऐसे वाङ्मय को पढ़ें, जिससे हमारा ज्ञान पुष्ट बने और हमें अध्यात्म की प्रेरणा मिले।

सवेरे सवेरे अखबार नहीं पढ़ना चाहिए। अखबार पढ़ना हो तो ११ बजे के बाद पढ़ें। सवेरे सवेरे हमारे हाथ का पवित्र स्थान अखबार को नहीं मिलना चाहिए। सुबह-सुबह तो भगवान की वाणी को पढ़ें, आगम का स्वाध्याय करें, अन्य कोई अच्छा ग्रंथ पढ़ें, साधना करें। मैंने देखा कि गुरुदेव तुलसी प्रायः सायंकालीन आहार के बाद अखबार पढ़ते थे। गुरुदेव महाप्रज्ञजी प्रायः मध्याह्नकालीन आहार के बाद अखबार पढ़ते थे। सुबह का समय हम अपनी साधना में नियोजित करें। हमें साधना का विकास करने के लिए और अपनी मंजिल तक पहुंचने के लिए आगम आदि की शरण में जाना चाहिए, जिनशासन की शरण में रहना चाहिए। जिनशासन का अंग है—आगम वाङ्मय। हम उसका स्वाध्याय करें। हम उत्तराध्ययन को चितारें, दशवैकालिक को चितारें, उनके अर्थ का चिन्तन करें, उससे हमें साधना की प्रेरणा मिलेगी, वैराग्य का भाव बढ़ेगा और हमारा वह पथ प्रशस्त होगा, जो हमें मंजिल तक पहुंचाने वाला होगा।

प्रश्न : वीतरागता की मंजिल तक पहुंचाने के लिए पूज्यप्रवर ने स्वाध्याय को प्रशस्त पथ बताया। उसमें आने वाली अनेक कठिनाईयों या प्रमाद को दूर करने के लिए ध्यान का कोई प्रयोग हो या मंत्र साधना का कोई प्रयोग हो तो पूज्यप्रवर प्रदान कराएं।

उत्तर : नमस्कार महामंत्र से श्रेष्ठ कोई मंत्र मिलना मुश्किल है। यह अपने आपमें परम मंत्र है। नमस्कार महामंत्र में वीतरागता की बात है। उसका जाप इस चिन्तन के साथ करो कि मुझे खूब आगम का स्वाध्याय करना है। ध्यान में निर्विचारता का प्रयास करना चाहिए। थोड़ा आलम्बन भले लें, निर्विचारिता की साधना हमारी आगे बढ़े, वह बहुत उच्च कोटि का ध्यान है।

प्रश्न : 'प्रस्थानभेदात् पन्थभेदः' प्रस्थान के भेद से पन्थ में भेद होता है अर्थात् मंजिल तो एक है पर पहुंचने के मार्ग अनेक हैं। लक्ष्य तो एक है लेकिन हमारे प्रस्थान के बिन्दु अलग होने से हमारे पन्थ का भेद हो जाता है। हम जैनधर्म के बारे में कहते हैं कि

'इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं' अर्थात् यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही एकमात्र सत्य है। प्रश्न होता है कि यदि यही सत्य है तो क्या दूसरे असत्य हैं? इसका जो स्पष्ट उत्तर है, वह आप कृपा कर फरमाएं।

उत्तर : प्रस्थान के भेद से पंथ भी अलग-अलग हो सकते हैं। जैसे, आमेट आना है, किसी को पूर्व दिशा की ओर से, किसी को पश्चिम दिशा की ओर से, किसी को उत्तर दिशा की ओर से तो किसी को दक्षिण दिशा की ओर से। सबके पन्थ अलग-अलग हैं। शर्त एक ही है कि पन्थ भले कोई भी हो, वह हमें मंजिल के निकट ले जाने वाला होना चाहिए। जो पन्थ हमें मंजिल से निकट और निकटतर करता हो, वह हमें शिरोधार्य होना चाहिए और वही स्वीकरणीय होता है। प्रस्थान के भेद से पन्थ का भेद होता है, यह मान्य भी है। अब दूसरी बात यह है—**इणमेव णिग्गंथं पावयाणं सच्चं** यह एक आस्था का सूत्र है और इसमें बड़ा तथ्य भी लगता है कि निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है। जिसमें राग-द्वेष की ग्रन्थि से मुक्ति की बात है, वह प्रवचन, वह शासन सत्य है। जहां कहीं राग-द्वेष की बात है, वह सत्य नहीं है। हम सम्प्रदाय की बात से ऊपर उठकर सोचें, जो साधना पद्धति निर्ग्रन्थ बनाने वाली है, राग-द्वेष से मुक्त बनाने वाली है, वही सत्य है, वही ठीक है। राग-द्वेष को बढ़ाने वाली जो पद्धति है, वह हमारे लिए असत्य है, छोड़ने योग्य है।

प्रश्न : हमारी साधना अभी व्यवहार के जगत् में हो रही है। बहुधा साधना करते-करते हमारे जीवन में ऐसे प्रसंग आते हैं, जहां हमें लगता है कि सीधी-सपाट बात कहने से हमारे व्यवहार में उलझनें आ सकती हैं, हमारा व्यवहार बिगड़ सकता है तो क्यों नहीं हम मिर्च-मसाले लगाकर बात को प्रस्तुत करें ताकि हमारा व्यवहार अच्छा रहे। जबकि हमारा मुख्य लक्ष्य है वीतरागता। ऐसी स्थिति में साधक को क्या करना चाहिए? हम अध्यात्म और व्यवहार के बीच संतुलन कैसे बिठाएं? पूज्यप्रवर मार्गदर्शन प्रदान करें।

उत्तर : सीधी सपाट बात और मिर्च मसालों वाली बात यानी दो तरह की बातें हो गईं। परम पूज्य गुरुदेव तुलसी बहुत वर्षों पहले दिल्ली में विराजमान थे। एक साधु ने कोई गलती कर दी। उस साधु को बुलाया गया। गुरुदेव ने उससे बात की। संभवतः उस साधु ने बात पर मिर्च-मसाले लगाने का प्रयास किया यानी सही बात न बताकर, बात को गोल-मोल कर या कुछ टेढ़ी-मेढ़ी बात बताने का प्रयास किया। तब गुरुदेव तुलसी ने कहा—देखो, गुरु के सामने भोले बालक की तरह बात करनी चाहिए। गुरु के सामने ज्यादा होशियारी नहीं छांटनी चाहिए। होशियारी छांटोगे तो शुद्धि कैसे होगी? जो बात जैसे है, वह वैसे बता दो।

मेरा तो यह मानना है कि यदि हमारा वंचनापूर्ण व्यवहार होता है तो वह हमारे व्यवहार को ज्यादा खराब करने वाला हो सकता है। सही-सही बात सरलता से प्रस्तुत करना ज्यादा ठीक हो सकता है। सीधी-सपाट का मतलब यह नहीं कि हम अविनय से बोलें, पर बात जैसी है वैसी बता दें, उसे छुपाने का प्रयास न करें। यथार्थ बात बताने का ज्यादा अच्छा प्रभाव पड़ता है और वंचनामुक्त बात करने वाले व्यक्ति के प्रति मन में श्रद्धा का भाव भी पैदा हो सकता है। इसलिए मिर्च मसालों को नहीं लगाना चाहिए। जैसी बात है, वैसी करनी चाहिए और मिर्च मसाले लगाएं भी तो कम से कम मूल को खत्म नहीं करना चाहिए। भाषण को बढ़िया बनाने के लिए तो फिर भी थोड़ा मिर्च-मसाला लगाना पड़ सकता है, पर मूल को भूलकर मिर्च-मसाला नहीं लगाना चाहिए। साहित्य जगत् में मिर्च-मसालों का उपयोग हो सकता है। व्यवहार जगत् में तो सीधी-सपाट बात ही ज्यादा उपयोगी लगती है।

प्रश्न : अभी आपने फरमाया कि वीतरागता हमारा लक्ष्य है और वस्तुतः लक्ष्य वीतरागता का ही है। लेकिन मेरा एक प्रश्न है कि हम व्यवहार जगत् में जी रहे हैं तो क्या प्रशस्त राग आवश्यक नहीं है? प्रायः यह देखा जाता है कि जहां प्रशस्त

राग होता है या अपनत्व का धागा जुड़ा हुआ होता है, वहां समाधि अच्छी रहती है और अस्वस्थ अवस्था में या वृद्धावस्था में भी ज्यादा अच्छी सेवा होती है। तो क्या व्यवहार के धरातल पर हमारे लिए प्रशस्त राग का होना आवश्यक है?

उत्तर : सीधे एम.ए. में बैठने का प्रयास नहीं करना चाहिए। पहले पहली, दूसरी, तीसरी आदि कक्षा में पढ़ें और क्रमशः आगे बढ़ें। इतनी गहराई में न भी जाएं, पर कम से कम व्यवहार में हमें गुस्सा न आए, हम एक-दूसरे को ताना न कसें, सेवा से न कतराएं यानी पहले अप्रशस्त राग को पूरा छोड़ दें तो वर्तमान जीवन में लगभग वीतरागता की साधना ही मान लूंगा। हम प्रशस्त राग की चर्चा न करें, पर जो हमारा आवेश, गुस्सा, छलना, या बाह्य पदार्थों का आकर्षण है, उसे छोड़ने के रूप में वीतरागता की साधना कर लें तो हम कल्याण की दिशा में काफी आगे बढ़ जाएंगे और एक समय आएगा, जब हम प्रशस्त राग से भी मुक्त हो जाएंगे। गौतम स्वामी का यों तो भगवान् महावीर के प्रति प्रशस्त राग था, पर एक ऐसा झटका लगा कि प्रशस्त राग भी छूट गया और वे केवली बन गए। इसलिए वर्तमान में प्रशस्त राग को छोड़ने पर ज्यादा ध्यान देने की अपेक्षा द्वेष, गुस्सा, असहिष्णुता, छिद्रान्वेषण, तानाशाही मनोवृत्ति, सेवाभावना की कमी आदि-आदि चीजों पर विजय पाने का प्रयास करना चाहिए।

प्रश्न : यदि नमस्कार महामंत्र के जप से ही वीतरागता मिल सकती है तो फिर आगम, दर्शन, व्याकरण आदि का अध्ययन क्यों करें? क्यों नहीं हम स्वयं को केवल नमस्कार महामंत्र के जप में ही योजित करें?

उत्तर : आगम पढ़ने के अनेक लाभ हैं। नवकार मंत्र का जप करने मात्र से तुम्हें साध्वाचार आदि का ज्ञान नहीं मिल सकेगा। वह ज्ञान तुम्हें आगम के अध्ययन से मिल सकेगा। एक बात संक्षेप में होती है और एक विस्तार में होती है। आगम का अपना महत्त्व है, नवकार मंत्र

का अपना महत्त्व है। समय पर नवकार मंत्र का भी जाप कर लें और समय पर आगम स्वाध्याय करने का भी प्रयास करें। जिसकी जहां ज्यादा उपयोगिता हो, वैसे वहां अपने आपको नियोजित करना चाहिए। जैसे, जो वृद्ध साधु-साध्वियां हैं, स्थिरवासी हैं, सेवाकेन्द्रों में हैं, जो न उठ सकते, न पढ़ सकते, उनके लिए मैं कहूंगा कि नवकार मंत्र का पाठ करते रहो। वह तन्मयता से होगा तो उससे भी कल्याण हो सकेगा। जो युवावस्था में हैं, पढ़ सकते हैं, जिनमें प्रतिभा है, वे आगम पढ़ें, जिससे स्वयं को ज्ञान होगा और दूसरों को भी बता सकने में अथवा ज्ञान देने में अपने सामर्थ्य को बढ़ा सकेंगे। तो वीतरागता की साधना में नवकार मंत्र भी सहायक है और आगम का स्वाध्याय भी सहायक है। कहीं-कहीं आगम ज्यादा उपयोगी सिद्ध हो जाते हैं। आगम में ऐसी बात पढ़ने को मिलती है, जिससे चिन्तन बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है, दृष्टि स्पष्ट हो जाती है और आदमी छलांग भर सकता है। अतः यथायोग्य दोनों का उपयोग किया जा सकता है।

५

सम्यक्त्व की पहचान

दर्शनाचार प्रवचनमाला के अन्तर्गत पांचवां विवेच्य विषय है– **सम्यक्त्व की पहचान।** जीव अनंत काल से जन्म और मरण की यात्रा में यात्रायित है। अनादि काल से चली आ रही इस यात्रा में वह क्षण धन्य होता है, परम धन्य होता है, जब प्राणी को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। सम्यक्त्व के बिना जीव आभ्यन्तर अंधकार में रहता है और सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर उसे एक नया आलोक प्राप्त हो जाता है। भगवान् महावीर के पूर्वजन्मों का वर्णन मिलता है, जिसमें २७ भव प्रख्यात हैं। २७ भवों में पहला भव नयसार का है। नयसार के भव से प्रारंभ करने का कारण यह है कि भगवान् महावीर की आत्मा को सम्यक्त्व की प्रथम बार प्राप्ति उसी भव में हुई थी। सम्यक्त्व की प्राप्ति दर्शनसप्तक के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से होती है। कर्मों के क्षयोपशम में निमित्त का भी बड़ा योगदान होता है। नयसार को जंगल में साधुओं का योग मिला और साधुओं के संपर्क से उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई। नयसार की आत्मा अब तक तो अंधकार में थी, पर निमित्त के योग से उसे सम्यक्त्व का आलोक मिल गया। संस्कृत वाङ्मय में कहा गया–

अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्मबुद्धिर्या, मिथ्यात्वं हि तदुच्यते।।

जो देव नहीं हैं, उनको धर्मदेव माना लेना। जैन आगमों में देववाद का बड़ा विशद वर्णन मिलता है। विभिन्न आगमों में हमें स्वर्ग और देवलोक की बातें मिल जाती हैं। ऐसा भी संभव है कि कभी-कभी कोई देवता अपनी दिव्य शक्ति से किसी साधु के पास आ भी जाए। साधु को तो अपनी साधना

पर ध्यान देना चाहिए। देवता के आने अथवा न आने को ज्यादा महत्त्व नहीं देना चाहिए। देवता आ जाए तो यही मानना चाहिए कि जैसे मनुष्य आते हैं वैसे कोई देवता भी आ गया। देवता आए तो मन में अहंकार नहीं आना चाहिए कि मेरे पास देवता आते हैं। धर्मक्षेत्र में अर्हत् को देव माना गया है। यदि अर्हत् की जगह कोई संसारी देवता को देव मान लेता है तो अदेव में देवबुद्धि हो जाती है। जो शुद्ध गुरु नहीं है, अगुरु है, उसको कोई गुरु मान लेता है और जिसमें धर्म नहीं है यानी हिंसा आदि के कार्य में धर्म मान लेता है, वह मिथ्यात्व कहलाता है।

सम्यक्त्व को परिभाषित करते हुए कहा गया है—

सुदेवे देवबुद्धिर्या, गुरुधीः सुगुरौ च या।
सुधर्मे धर्मबुद्धिर्या, सम्यक्त्वं हि तदुच्यते।।

जिसकी देव में देवबुद्धि है, सुगुरु में गुरुबुद्धि है और धर्म में धर्मबुद्धि है, वह सम्यक्त्व है।

आदमी की दृष्टि कैसी है? यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। प्रश्न यह उठता है कि व्यक्ति में सम्यक्त्व का स्पर्श हुआ है या नहीं, इसकी पहचान कैसे करें? हालांकि निर्णय कर पाना कुछ कठिन तो है कि वास्तव में कौन सम्यक् दृष्टि है और कौन मिथ्यादृष्टि है? कौन भव्य है और कौन अभव्य है? कई बार साधु-संस्था में भी अभव्य जीव दीक्षित हो सकता है। भाष्य साहित्य में यह उल्लेख मिलता है कि अभव्य जीव साधुओं का मालिक यानी आचार्य भी बन सकता है। उसके द्वारा दीक्षित साधु मोक्ष में चला जाता है, पर वह अभव्य प्राणी कभी मोक्ष में नहीं जा सकता। प्रश्न हो सकता है कि वह अभव्य किस कर्म के उदय से बना? इसमें किसी कर्म का उदय नहीं होता है। इस विषय में यही समझना चाहिए कि नियति को यही मंजूर था कि अमुक प्राणी को अभव्य रहना है। इस नियति को कोई बदल नहीं सकता। यद्यपि पुरुषार्थ के द्वारा मिथ्यात्वी को सम्यक्त्वी बनाया जा सकता है, परन्तु अभव्य प्राणी को कभी भव्य नहीं बनाया जा सकता। अभव्य तपस्या कर सकता है, साधना कर सकता है और साधना करके इतने ऊंचे देवलोक में जा सकता है, जितना ऊंचा श्रावक भी नहीं जा सकता। साधु की निश्रा में रहने के कारण अभव्य की

उत्पत्ति नौ ग्रैवेयक तक हो सकती है।

सम्यक्त्वी कौन है? इसकी पहचान के मानक बताए गये हैं। सम्यक्त्व के पांच लक्षण हैं—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य।

● शम—क्रोध आदि कषायों की शांति।

जिसका कषाय उपशांत है, वह व्यक्ति सम्यक्त्वी हो सकता है। अनंतानुबंधी जैसे तीव्रतम कषाय के उदय होने पर यदि एक वर्ष तक भी मन की गांठ नहीं खुलती है तो संभावना की जा सकती है कि वह व्यक्ति मिथ्यात्वयुक्त है। सम्यक्त्व को निर्मल बनाने के लिए हमें कषायों को पतला बनाने का प्रयास करना चाहिए। क्रोध, मान, माया, लोभ पतले पड़ें, हमें ऐसा प्रयास करना चाहिए। अभ्यास और पुरुषार्थ से परिणाम सकारात्मक मिल सकता है। पुरुषार्थ करना तो आदमी के हाथ की बात है। पुरुषार्थ का किसी न किसी प्रकार से प्रायः फल भी मिलता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कषायों के उपशमन के द्वारा व्यक्ति सम्यक्त्व-प्राप्ति की ओर अग्रसर हो सकता है।

● संवेग—मोक्ष की अभिलाषा।

मोक्ष में जाने की तीव्र अभीप्सा को संवेग कहा गया है। यह सम्यक्त्वी होने का दूसरा लक्षण है। हमारे मन में मोक्ष की भावना अर्थात् मुमुक्षा भाव रहना चाहिए। हम अपने आप को भावित करते रहें कि मैं मुमुक्षु हूं, मोक्ष का इच्छुक हूं। हमारे यहां मुमुक्षु शब्द पारिभाषिक सा बन गया है। तेरापंथ में जो वैरागी होता है, उसको व्यवहार की भाषा में मुमुक्षु संज्ञा दी जाती है, पर मुमुक्षु नाम साधु का भी होता है। जिसमें मोक्षाभिलाषा है, वह मुमुक्षु है।

● निर्वेद—संसार से विरति।

संसार और सांसारिक भोगों से विरक्त बनने की भावना, सम्यक्त्व का तीसरा लक्षण है। आदमी में पदार्थों के प्रति अनासक्ति की चेतना जागे। जहां अनासक्ति होती है, वहां विरक्ति आसान हो जाती है।

● अनुकम्पा—प्राणीमात्र के प्रति दया का भाव।

जिसमें अनुकम्पा की चेतना का विकास हो गया है, उसे सम्यक्त्वी कहा

जाता है। अनुकम्पा की चेतना मनुष्यों में भी हो सकती है और पशु में भी हो सकती है। मेघकुमार हाथी के भव में था। वहां भी उसमें कितनी अनुकम्पा थी।

मेघकुंवर हाथी रै भव में, श्री जिन भाखी दया गुण आई।
ऊंचो पग राख्यो सुसियो न मार्‌यो आ करणी श्री वीर सराई।
आ अनुकम्पा जिन आज्ञा मांही।।

हाथी के भव में मेघकुमार ने खरगोश पर कितनी अनुकम्पा की। उसने सोचा, मेरे कारण खरगोश मर न जाए। ऐसा चिन्तन करना और उसके लिए कष्ट सहन करना, अनुकम्पा की चेतना को दर्शाता है। अनुकम्पा की चेतना होने के कारण ही मेघकुमार ने हाथी के भव में भी इतनी वेदना सहन की कि उसका प्राणान्त हो गया। सम्यक्त्वी वह है, जिसमें अनुकम्पा का विकास होता है। मिथ्यात्वी में भी अनुकम्पा मिल सकती है। साम्राट् अशोक की बात आती है। विजय प्राप्त करने के बाद विजयोत्सव का आयोजन किया गया। वह उसमें भाग लेने के लिए जा रहा था। जाने से पहले वह मां के पास गया, प्रणाम किया और विजयोत्सव में भाग लेने की आज्ञा मांगी। मां की आंखों में अश्रुधारा बह निकली। अशोक ने सोचा, ये तो हर्ष के आंसू होंगे। आखिर उसने मां से पूछ ही लिया—मां! क्या मैं यह मानूं कि तुम्हारे ये आंसू हर्ष के हैं? मां ने कहा—बेटा! किस बात का मुझे हर्ष होगा? तुमने कौनसा अच्छा काम किया है? कितने शूरमाओं को तुमने मौत के घाट उतारा है? तुमने कितनी सौभागिनी महिलाओं का सुहाग लूटा है? मुझे तो बहुत दुःख हो रहा है। अशोक! तुम सोचो, अगर युद्ध में तुम्हें कुछ हो जाता तो मेरे में क्या बीतती? आज वही हालत उन माताओं की हो रही होगी, जिनके लाल युद्ध में मौत के घाट उतर गये। उन महिलाओं की क्या स्थिति हो रही होगी, जिनके पति युद्ध में काम आ गये। मां की व्यथा ने सम्राट् अशोक के जीवन की दिशा बदल दी। अशोक बोला—मां! हो गया सो हो गया। उसे तो अनहोना नहीं किया सकता। अब मैं संकल्प करता हूं कि अपनी शक्ति का नियोजन धर्म के प्रसार में करूंगा।

● आस्तिक्य—आत्मा, कर्म आदि में विश्वास होना।

आत्मा है। उसका शाश्वत अस्तित्व है। पुण्य-पाप का फल मिलता है। इस आस्तिकवाद में आस्था का होना भी सम्यक्त्व का एक लक्षण है। सम्यक्त्व का कितना महत्त्व है, इसे हमें समझना चाहिए। सम्यक्दृष्टि जीव आयुष्य का बंध करता है तो नरक अथवा तिर्यंच का बंध नहीं करता। मनुष्य आयुष्य का बंध भी नहीं करता। भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क देवों के आयुष्य का बंध भी नहीं करता। एकमात्र वैमानिक देव के आयुष्य का ही बंध करता है। सम्यक्त्वी नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का भी बन्ध नहीं करता। एकमात्र पुरुषवेद का ही बंध करता है।

सम्यक्त्व के बिना सम्यक् चारित्र की प्राप्ति नहीं हो सकती। सम्यक्त्व, चारित्र की पहली शर्त है। उत्तरज्झयणाणि में कहा गया है कि निर्वाण किसे प्राप्त हो सकता है? निर्वाण उसे प्राप्त हो सकता है, जो कर्मों से मुक्त हो जाता है। कर्मों से मुक्त कौन हो सकता है? जो चारित्र संपन्न है, वही व्यक्ति कर्मों से सर्वथा मुक्त हो सकता है। चारित्र किसे प्राप्त हो सकता है? जिसके पास सम्यक् ज्ञान हो, उसे चारित्र की प्राप्ति हो सकती है। सम्यक् ज्ञान किसे प्राप्त हो सकता है? जो सम्यक् दर्शनी है, उसे ही सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। सम्यक्त्व कितना बड़ा आध्यात्मिक आधार है। यह चारित्र की साधना का भी बड़ा आधार है। सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए केवल दर्शन मोहनीय का विलय ही आवश्यक नहीं, चारित्र मोहनीय का विलय भी आवश्यक है। क्योंकि अनंतानुबंधी कषाय चारित्र मोहनीय की प्रकृतियां हैं। हम ऐसा ज्ञान करें, जिससे सम्यक् ज्ञान को बल मिले।

परम पूज्य गुरुदेव महाप्रज्ञजी के पास ज्ञान की अपार संपदा थी। वे दूसरों को भी ज्ञान देते थे। परम पूज्य गुरुदेव तुलसी की वाचना प्रमुखत्व में आगम संपादन का कार्य आचार्य महाप्रज्ञजी ने ज्ञान सम्पदा के कारण ही काफी अंशों में बखूबी संपन्न कर दिया था। वे सम्पादित आगम आज हमारे स्वाध्याय के अच्छे माध्यम बने हुए हैं। हालांकि जैन समुदायों में अनेक जगह ऐसा प्रयत्न हुआ है। मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के मुनि पुण्यविजयजी और जम्बूविजय जी ने भी बहुत काम किया था। जम्बूविजयजी से दिल्ली में

हमारा मिलना भी हुआ था। स्थानकवासी समाज में देखें तो अमोलक ऋषिजी, मधुकर मुनि आदि ने कितना काम किया। तेरापंथ में भी आगमों का कितना काम हुआ है और आज भी वह काम चालू है। ३२ आगम के मूल पाठ तो प्रकाशित रूप में आ गए हैं। अनेक आगम टिप्पण, अनुवाद आदि सहित छप चुके हैं, फिर भी बहुत कार्य अवशेष की सूची में है। हम श्रुत की आराधना करें, सम्यक् ज्ञान की आराधना करें और हमारी श्रद्धा को सम्यक् बनाने का प्रयास करें। नव पदार्थों का सम्यक् ज्ञान हो जाए और उस पर श्रद्धा हो जाए तो सम्यक्त्व-प्राप्ति की संभावना की जा सकती है। किसकी चेतना में सम्यक्त्व का स्पर्श है, किसके नहीं, यह तो केवलीगम्य है। हम व्यवहार के धरातल पर इन पांच लक्षणों के आधार पर अमुक सम्यक्त्वी है, ऐसा कह सकते हैं। सभी साधु-साध्वियां और श्रावक-श्राविकाएं भी अपने सम्यक्त्व को निर्मल बनाने का और बनाए रखने का प्रयास करें। हमें सतत जागरूक रहने की आवश्यकता है कि हमारा सम्यक्त्व कमजोर न पड़ जाए, क्योंकि हम क्षयोपशम सम्यक्त्व के धारक हैं। वह ढीला-ढाला होता है। क्षायिक सम्यक्त्व तो इतना मजबूत होता है कि वह आने के बाद वापिस नहीं जाता, पर क्षयोपशम सम्यक्त्व तो पता नहीं कब चला जाए। इसको ज्यादा संभाल कर रखने की अपेक्षा है। क्षयोपशम सम्यक्त्व तो कांच के बरतन के समान है। पता नहीं वह कब गिर जाए और फूट जाए। कांच के बरतन को रखने में सावधानी रखने की अपेक्षा रहती है। हमें सम्यक्त्व को कांच के बरतन के समान मानकर उसकी सुरक्षा का प्रयास करना चाहिए एवं हमारा सम्यक्त्व और अधिक निर्मल बने, ऐसा प्रयत्न भी करते रहना चाहिए।

प्रश्न : अभव्य जीव साधु की नेश्राय में रहकर नव ग्रैवेयक तक जा सकता है, किन्तु तीर्थंकर की नेश्राय या परिषद् में क्यों नहीं जाता है?

उत्तर : अभव्य प्राणी दीक्षा तो ले सकता है, परन्तु तीर्थंकर की सभा में जाने का सौभाग्य उसे प्राप्त नहीं होता। वहां जाने के लिए कुछ अर्हताएं अनिवार्य होती हैं। माना तो यह गया है कि अभव्य जीव तीर्थंकरों की परिषद् में ही नहीं, सामान्यतया केवलियों की परिषद् में भी नहीं

जाता, क्योंकि वहां जाने से उसकी अभव्यता का उद्घाटन हो जाता है। यह परम्परागत ही निषिद्ध माना गया है। इसके पीछे कोई अतिरिक्त कारण माना गया हो, ऐसा नहीं लगता।

प्रश्न : पूज्यवर ने फरमाया कि अभव्य होना एक नियति है तो क्या इससे नियतिवाद को ज्यादा महत्त्व नहीं मिल रहा है? जबकि जैनदर्शन में काल, स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ, नियति सभी को माना गया है?

उत्तर : हम तो दोनों को ही महत्त्व दे रहे हैं। नियति की जगह नियति को महत्त्व मिलना चाहिए और पुरुषार्थ की जगह पुरुषार्थ को महत्त्व मिलना चाहिए। हम जो साधना करते हैं, इतना वक्तव्य दे रहे हैं, वह सारा हमारा पुरुषार्थ ही है। हमें इस सच्चाई को भी मानना चाहिए कि कुछ क्षेत्र नियति का है, वहां पुरुषार्थ भी गौण हो जाता है। नियति के कुछ-कुछ क्षेत्रों में पुरुषार्थ भी निष्फल हो जाता है। उसका एक उदाहरण है—अभव्य प्राणी। हम पुरुषार्थ के द्वारा एक मिथ्यात्वी को तो सम्यक्त्वी बना सकते हैं, पर अभव्य को भव्य बनाना तीर्थंकर देव के भी बस की बात नहीं है।

प्रश्न : सुलब्ध बोधि और सम्यक्त्वी एक हैं या दो? यदि दो हैं तो पहले कौन होता है?

उत्तर : सुलब्ध बोधि और सम्यक्त्वी एक ही है। बोधि में तो सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—तीनों आ जाते हैं। सम्यक्त्व में केवल सम्यक्दर्शन ही आता है। बोधि का एक अंग है—सम्यक् दर्शन। यहां जो सुलब्ध बोधि शब्द है, वह मुख्यतया सम्यक्दर्शन के अर्थ में ही है।

प्रश्न : गौतम गणधर जिन तापसों को लेकर आए, उन तापसों ने भगवान् को वन्दन किया और उन्हें केवलज्ञान हो गया। उन्हें सम्यक्ज्ञान कब और कैसे हुआ?

उत्तर : सम्यक्त्व और चारित्र एक साथ भी आ सकते हैं। चेतना में कई बार

ऐसा रूपान्तरण होता है। राजर्षि प्रसन्नचन्द्र की चेतना में कुछ क्षणों में ही ऐसा परिष्कार हुआ कि वे केवली बन गए। कई बार ऐसा भी होता है कि एक क्षण में सम्यक्त्वी बना और साथ में उसे चारित्र भी आ गया। वहां अनंतानुबंधी चतुष्क, अप्रत्याख्यानी चतुष्क, प्रत्याख्यानी चतुष्क–इन बारह प्रकृतियों का युगपत् क्षयोपशम, क्षय, उपशम माना गया है। ऐसा जीव पहले गुणस्थान से सीधा सातवें गुणस्थान में और सातवें से आठवां, नवां, दसवां, बारहवां, तेरहवां गुणस्थान प्राप्त कर लेता है। जब सातवें गुणस्थान से ऊपर चढ़ता है तो उस समय उसके अंतर्मुहूर्त भी बहुत छोटे होते हैं। एक बड़े अंतर्मुहूर्त में ही उसे तेरहवां गुणस्थान प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न : दर्शनाचार प्रवचनमाला के अंतर्गत जिस तरह आपकी दिव्य वाणी प्रसरित हो रही है, ऐसा लगता है कि एक-एक शब्द जीवन की दिशा बदलने वाला है तो क्या सम्मुख बैठी जनता में कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं, जिनका आपके इस प्रवचन श्रवण से कषाय मन्द हो गया और सम्यक्त्व के पांचों लक्षण उनके भीतर प्रस्फुटित हो गए हों। उसके बाद क्या वह सम्यक्त्वी बन जाता है या उसे किसी प्रकार की सम्यक्त्व दीक्षा लेनी पड़ती है?

उत्तर : निश्चय में तो बिना गुरुधारणा लिए भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है यानी अनंतानुबंधी चतुष्क और दर्शनत्रिक का ज्यों ही विलय होता है, सम्यक्त्व का स्पर्श हो जाता है। गुरुधारणा तो एक हमारा व्यावहारिक प्रारूप बनाया हुआ है ताकि विधिवत् काम हो जाए। चेतना की जहां विशुद्धि हो जाती है, वहां सम्यक्त्व तो छोटी बात है, भावों-भावों में चारित्र भी आ सकता है और केवलज्ञान की प्राप्ति भी हो सकती है। इस परिषद् में भी किसी में भावों की विशुद्धि का प्रकर्ष हो जाए तो बैठे-बैठे मिथ्यात्वी का सम्यक्त्वी बन सकता है।

प्रश्न : आचार्यवर ने फरमाया कि सम्यक्त्व को प्राप्त करने के बाद

वह स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का बंधन नहीं करता है। मेरी जिज्ञासा यह है कि सम्यक्त्व को प्राप्त करने के बाद यदि वह माया का प्रयोग करता है तो क्या उसके स्त्रीवेद का बंधन नहीं होगा?

उत्तर : माया का प्रयोग करते समय वह सम्यक्त्व से च्युत हो जाता है। सम्यक्त्व से च्युत होने के बाद ही वह स्त्रीवेद का बंधन कर सकता है, सम्यक्त्व अवस्था में वैसा बंध नहीं कर सकता।

प्रश्न : मल्लिनाथ ने पहले तीर्थंकर गोत्र का बंध किया या स्त्रीवेद का?

उत्तर : मल्लिनाथ ने पहले स्त्रीवेद का बंधन किया और बाद में तीर्थंकर गोत्र का बंध किया। उन्होंने मिथ्यात्व अवस्था में स्त्रीवेद का बंध किया।

प्रश्न : चौंसठ इन्द्र होते हैं, वे क्या सम्यक्त्वी ही होते हैं?

उत्तर : वर्तमान में चौंसठ इन्द्र हैं, उन्हें सम्यक् दृष्टि माना गया है।

प्रश्न : क्या सम्यक्त्व के हर कारण को पूजनीय माना जाए?

उत्तर : सम्यक्त्व के हर कारण को पूजनीय नहीं माना जाता, क्योंकि कारण तो निमित्त है। किसी भी कारण से सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है। मूलतः सम्यक्त्व आत्मा से होता है, कारण बाहर का भी हो सकता है। उपादान कारण जो होता है यानी भीतर का क्षयोपशम होता है, वह तो आदरणीय होता है। बाहरी कारण तो केवल ज्ञेय हैं।

६

सम्यक्त्व के दूषण

दर्शनाचार प्रवचनमाला के अन्तर्गत छठा प्रतिपाद्य विषय है—**सम्यक्त्व के दूषण।** यदि कपड़े पर गंदगी लग जाती है तो वह कपड़ा दूषित हो जाता है। गर्मी के दिनों में पसीना आता है। ऐसी स्थिति में कई दिनों तक कपड़ों का प्रक्षालन न किया जाए तो उनमें मैलापन दिखाई देने लगता है यानी कुछ ऐसे पदार्थों का योग मिलता है जिससे कपड़ा या कोई भी चीज मलिन बन जाती है। कभी-कभी आदमी के विचार भी प्रदूषित हो जाते हैं। विचार के साथ कषाय का योग मिल जाता है तो विचार दूषित हो जाते हैं। जल-प्रदूषण, ध्वनि-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण आदि से पर्यावरण भी प्रदूषित हो जाता है। किसी भी चीज को सुरक्षित और साफ रखना है तो उसे दोषों से, दूषणों से बचाना आवश्यक है। सम्यक्त्व एक निर्मल तत्त्व है, परन्तु उसमें कुछ विजातीय तत्त्व मिल जाते हैं तो वह भी दूषित हो जाता है। सम्यक्त्व के पांच अतिचार अथवा दूषण हैं, जो परिहर्तव्य हैं। वे इस प्रकार हैं—

- शंका—तत्त्व के प्रति सन्देह करना।

यह सम्यक्त्व का पहला दूषण है। शंका सम्यक्त्व को निर्मल रखने में बाधक बनती है। यदि देव, गुरु और धर्म के प्रति शंका होती है, तत्त्वों के प्रति शंका होती है तो सम्यक्त्व कमजोर हो जाता है। संशय की स्थिति में सम्यक्त्व की दृढ़ता नहीं रहती। जिसमें किसी प्रकार का संशय नहीं होता, उसका सम्यक्त्व मजबूत होता है। विजयचन्दजी पटवा का सम्यक्त्व इतना मजबूत था कि आचार्य भिक्षु ने उनके लिए एक बार कहा था कि पटवाजी में क्षायिक सम्यक्त्व जैसी स्थिति लगती है।

तेरापंथ या आचार्य भिक्षु के प्रति उनकी आस्था इतनी गहरी थी कि किसी भी प्रसंग में वह कमजोर नहीं हुई। एक बार मुनि चंद्रभाणजी (संघ से बहिर्भूत साधु) पाली आए। वे पटवाजी से मिले। उन्होंने संघ और संघपति के संदर्भ में अनेक प्रकार की निंदात्मक बातें की, किन्तु पटवाजी मौन रहे। उनके निकट खड़े व्यक्तियों ने सोचा कि पटवाजी मुनि चंद्रभाणजी के विचारों से सहमत हैं। कालान्तर में आचार्य भिक्षु वहां आए। उन लोगों ने पटवाजी के बारे में शिकायत की। आचार्य भिक्षु ने सोचा—पटवाजी के मन में शंका होगी तो वे स्वयं पूछ लेंगे, पर पटवाजी ने कभी कुछ नहीं पूछा। विहार से एक दिन पूर्व आचार्य भिक्षु बोले—पटवाजी! मैंने सुना है कि चंद्रभाणजी ने तुम्हारे सामने बहुत-सी निंदात्मक बातें कही थीं। क्या तुम्हें कुछ पूछना है? पटवाजी बोले—स्वामीजी! मेरे मन में कोई शंका नहीं है। मैं जानता हूं कि जो व्यक्ति अनंत सिद्धों की साक्षी से किए अपने त्याग तोड़कर आया है, वह झूठ बोलने में संकोच क्यों करेगा? मैं उनकी बातों का प्रतिवाद करता तो मेरा समय नष्ट होता।

पटवाजी की अपने गुरु के प्रति आस्था इतनी मजबूत थी कि कोई उन्हें यह कहता कि स्वामीजी अमुक दोष का सेवन कर रहे थे तो वे कहते—मेरे गुरु दोष का सेवन करते नहीं और अन्य लोग निंदा किये बिना रहते नहीं।

अपने लक्ष्य के प्रति भी दृढ़ता का होना आवश्यक है। संदिग्ध अवस्था में कार्य किया जाता है उसका परिणाम ठीक न भी आए, किन्तु जिज्ञासा होना अच्छा है। जिज्ञासा तो ज्ञान की मां है। वह ज्ञान को पैदा करनी वाली है। जिज्ञासा के रूप में संशय भी अच्छा है। **न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति** जिज्ञासा रूपी संशय के बिना आदमी कल्याण को नहीं देखता। कोई मन में जिज्ञासा होगी, संशय होगा कि यह चीज क्या है, तब वह उसको जानने की चेष्टा करेगा। वह संशय या जिज्ञासा अच्छी है। गौतम स्वामी के मन में भी संशय पैदा होता था। वे भगवान् महावीर के पास अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करते और फिर भगवान् से उनको समाधान भी मिलता था। शंकाशीलता अवांछनीय होती है।

चम्पा नगरी में दो सार्थवाह पुत्र रहते थे—जिनदत्तपुत्र और सागरदत्तपुत्र।

दोनों में अच्छी दोस्ती थी। वे एक दिन वन विहार के लिए गए। वहां उन्होंने एक मयूरी के दो अण्डे देखे। दोनों मित्रों ने परस्पर कहा कि हम इन वन-मयूरी के अण्डों को अपनी जाति-संपन्न मुर्गियों के अण्डों के साथ रख दें, जिससे वे मुर्गियां इन अण्डों को अपने अण्डों के साथ पांखों से ढककर उनका संरक्षण करेंगी। उन अण्डों से मयूरी के दो बच्चे निकलेंगे। वे हमारे क्रीड़ा के साधन बन जाएंगे। एक दिन सागरदत्तपुत्र मयूरी के अण्डों के पास आया। उसने सोचा—इस अण्डे से मेरा खिलौना (मयूरी का बच्चा) होगा या नहीं? वह बार-बार उसे उलट-पलटकर देखता और कान के पास ले जाकर उसे बार-बार बजाता। इस प्रकार बार-बार करने से वह मयूरी का अण्डा सारहीन हो गया। जिनदत्तपुत्र भी मयूरी के अण्डे के पास गया। उसने सोचा—इससे मयूरी का बच्चा अवश्य उत्पन्न होगा। उसने अण्डे को छुआ तक नहीं। एक दिन उस अण्डे से मयूरी का बच्चा उत्पन्न हो गया।

सन्देह रखने वाला व्यक्ति कभी सफल नहीं होता। जो सन्देह से मुक्त रहता है, वह सफलता का वरण कर लेता है। जो व्यक्ति जैनशासन अथवा जिनमत को स्वीकार करता है और उसमें असंदिग्ध रहता है, वह कभी दिग्भ्रान्त नहीं हो सकता।

जीवन में निःशंकता होती है तो सम्यक्त्व के संदर्भ में उसका बड़ा महत्त्व है। जिसको हमने अच्छी तरह खोजबीन के बाद गुरु स्वीकार कर लिया, जिसको देव के रूप में स्वीकार कर लिया और जिसको धर्म के रूप में स्वीकार कर लिया, उसके प्रति हमारी आस्था मजबूत रहनी चाहिए। शंका से आदमी को बचना चाहिए।

● कांक्षा—कुमत की वांछा करना।

यह सम्यक्त्व का दूसरा दूषण है। कांक्षा का एक अर्थ किया गया है कि इहलोक और परलोक के भोगों की आकांक्षा करना। सम्यक्त्व निर्मल है तो भोगाकांक्षा कम होगी। अगर भोगाकांक्षा ज्यादा है तो वह सम्यक्त्व को दूषित करने वाला तत्त्व है। कांक्षा का एक बहु प्रचलित अर्थ है—कुमत की वांछा करना। मिथ्याचार को स्वीकार करने की अभिलाषा करना, लक्ष्य से विपरीत दृष्टिकोण को स्वीकार करना, इस प्रकार का जो रुझान है वह कांक्षा है। किसी

ने बाह्य चमत्कार दिखाया, किसी ने भाषण अच्छा दिया, किसी ने धन-प्राप्ति का मंत्र बता दिया, किसी ने संतान-प्राप्ति का उपाय बता दिया, इतने में उसके प्रति आकर्षण हो गया और मूल धर्म को छोड़ने की भावना हो गई, यह कुमत की वांछा करना, मिथ्याचार की वांछा करना है और सत्यक्त्व के लिए बड़ा खतरा है। इस प्रकार की कांक्षा से सम्यक्त्वी को बचना चाहिए।

- विचिकित्सा—धर्म के फल में सन्देह करना।

मैं धर्म करता हूं, इसका फल है या नहीं? मैं तपस्या करता हूं, इसका मुझे कोई फल मिलेगा या नहीं? निर्जरा होगी या नहीं? धर्म के फल के प्रति संदेह कर लेना विचिकित्सा है।

- परपाषण्ड-प्रशंसा—मिथ्यादृष्टि और व्रत-भ्रष्ट पुरुषों की प्रशंसा करना।

जो विशुद्ध धर्म से दूर रहने वाले हैं, विपरीत रहने वाले हैं, उनकी प्रशंसा करना परपाषण्ड-प्रशंसा है।

- परपाषंड-परिचय—मिथ्यादृष्टि और व्रत-भ्रष्ट पुरुषों से परिचय करना।

जो मिथ्यादृष्टि हैं, जिनकी श्रद्धा ठीक नहीं है, उनसे ज्यादा संपर्क रखने से सम्यक्त्व को खतरा हो सकता है। कुछ मत धर्म से विपरीत होते हैं, उनके अनुयायियों या उन लोगों के साथ प्रशंसापूर्ण व्यवहार करना और उनका अधिक संसर्ग रखना सम्यक्त्व के लिए खतरनाक हो सकता है।

आदमी निःसंदेह अपने लक्ष्य के प्रति, अपने स्वीकृत देव, गुरु, धर्म के प्रति निःसंक रहकर आगे बढ़ने का प्रयास करे। कभी-कभी ऐसा दर्शनमोहनीय का उदय हो जाता है, ऐसा कोई निमित्त मिल जाता है, जो आदमी को कुपथ की ओर ले जाता है और उसके सम्यक्त्व को दूषित करने वाला बन जाता है। जहां आस्था है, वहां छोटी-मोटी बात बाधक नहीं बननी चाहिए। जैसे गुरु के प्रति आस्था है, परन्तु गुरु ने मन के प्रतिकूल निर्णय दे दिया, इसलिए आस्था में कमी आ गई। यह हमारी कमजोरी है। गुरु तो सर्वाधिकार संपन्न होते हैं, शिष्यों पर उनका अधिकार होता है। जब गुरु शिष्यों

के मनोनुकूल निर्णय देते हैं तो शिष्य सोचते हैं कि आचार्यश्री तो श्रुतकेवली हैं, तीर्थंकर हैं। जब मन के प्रतिकूल निर्णय हो जाता है तो शिष्य सोचते हैं कि आचार्यश्री तो पक्षपात करते हैं, उन्हीं को महत्त्व देते हैं। हमें तो पूछते ही नहीं हैं। ऐसी स्थितियां हमारी आस्था को कमजोरी बनाने वाली नहीं बने, यह अपेक्षा है। हमारा संबंध है, वह अध्यात्म का संबंध है।

साधु-साध्वियां गुणगान करते हैं, आचार्य भी गुणगान करते हैं। यह गुणगान करना एक प्रकार से आस्था को पोषण देने वाला तत्त्व होता है। अपने आराध्य का गुणगान किया जाता है तो आस्था को पुष्ट होने का मौका मिलता है और अपने भावों को अभिव्यक्त करने का अवसर भी मिल जाता है। ऐसे अनेक प्रकार हैं, जिनके द्वारा आस्था को संपोषण मिल सकता है। गुरु भी ऐसी स्थिति का निर्माण करने का प्रयास करते हैं कि झटपट शिष्य की आस्था कमजोर न हो जाए। वे भी समय-समय पर शिष्यों को संभालते हैं और इसके प्रति जागरूक रहते हैं कि शिष्यों में अथवा संघ के सदस्यों में कहीं कोई कमजोरी न आ जाए, संघ के प्रति आस्था कम न हो जाए। हम धर्मशासन में हैं, उसके प्रति हमारी निष्ठा मजबूत रहनी चाहिए। देव, गुरु और धर्म बड़े महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं, मानो वे अध्यात्म की साधना के स्तंभ हैं। धर्म तो मूल है ही। अर्हत् देव, जिनके प्रवचन के आधार पर हम साधना करते हैं, इसलिए वे हमारे आराध्य हैं और गुरु तो हमें दिशा निर्देश देने वाले हैं, पथदर्शन देने वाले हैं, इसलिए वे भी हमारे आराध्य हैं। गुरु तो शिष्य के अंधकार को दूर करने वाले होते हैं। कहा तो यह गया है कि एक अक्षर का भी कोई ज्ञान दे तो वह भी गुरु है।

एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नैव मन्यते।
श्वानयोनौ शतं गत्वा, चाण्डालेष्वपि जायते।।

एक अक्षर का ज्ञान देनेवाले को कोई गुरु नहीं माने तो किसी मत में कहा गया है कि वह व्यक्ति सौ बार कुत्ते की योनि में जाता है और चंडाल की योनि में भी पैदा होता है यानी ज्ञान देने वाले का बड़ा महत्त्व है। ज्ञान देने वाला एक दृष्टि से गुरु हो जाता है। धर्म गुरु वह होता है, जो हमें साधना का पथ दिखाता है। जैनधर्म में गुरु के लिए त्याग की भी कसौटी रखी गई। केवल

ज्ञान देने वाला ही नहीं, उसमें त्याग भी होना चाहिए, साधना भी होनी चाहिए।

जैन वाङ्मय के संदर्भ में विचार करें तो त्यागी, निर्ग्रन्थ, शुद्ध साधु गुरु होता है। हमारे सम्यक्त्व रूपी रत्न की अन्य किसी भी रत्न के साथ तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि चारित्र भी सम्यक्त्व के बिना नहीं हो सकता। चारित्र का मूल्य है, पर चारित्र का आधार भी सम्यक्त्व है। यदि सम्यक्त्व नहीं है तो चारित्र भी नहीं रह सकता। इसलिए चारित्र जैसी निर्मल वस्तु के आधार स्वरूप सम्यक्त्व के प्रति हमारे मन में निष्ठा पुष्ट रहे और हम शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परपाषंड-प्रशंसा और परपाषंड-परिचय से अपने सम्यक्त्व की सुरक्षा करते रहें तो हमारा सम्यक्त्व निर्मल रह सकता है।

प्रश्न : सिरियारी आदि स्थानों को महत्त्व देना अथवा वहां माला, जप आदि विशेष अनुष्ठान करना क्या सम्यक्त्व को दूषित नहीं करता?

उत्तर : सिरियारी आदि स्थानों में जाने वालों और साधना करने वालों में यदि आचार्य भिक्षु के प्रति निष्ठा पुष्ट है, तब तो सम्यक्त्व को कमजोर करने वाली कोई बात नहीं लगती। यदि स्वामीजी गौण और वह स्थान मुख्य हो जाता है तो थोड़ी कठिनाई की स्थिति हो जाती है। हालांकि सिरियारी के बिना भी साधना हो सकती है, यह तो हमारा स्पष्ट मत है ही। साधना आमेट के तेरापंथ-भवन में अथवा इस पंडाल में भी हो सकती है, श्मशान में भी हो सकती है। जहां भी मन एकाग्र हो जाए, वहीं अच्छी से अच्छी साधना हो सकती है।

प्रश्न : सर्वधर्म सम्मेलन आयोजित किए जाते हैं, उसमें अन्यतीर्थों का गुणगान किया जाता है तो क्या यह परपाषंड-प्रशंसा और परपाषंड-परिचय नहीं है?

उत्तर : धर्म के नाम पर परस्पर जो दंगा-फसाद, द्वेष होता है, एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के लोगों को मारने तक की बात भी कर लेते हैं, इस तरह की हिंसक भावना उत्पन्न न हो, हिंसा का माहौल न बने, इसलिए सर्वधर्म सम्मेलन हो तो वह काम्य हो सकता है। इसके

साथ-साथ हमारी आस्था देव, गुरु और धर्म के प्रति, अध्यात्म के प्रति, जिनशासन के प्रति, वीतरागता के प्रति मजबूत रहनी चाहिए। दूसरे धर्मों में भी वीतरागता की बातें मिल सकती हैं। दूसरे धर्म के लोग भी सत्य की प्रशंसा करते हैं, अहिंसा, भाईचारा, ईमानदारी को अच्छा मानते हैं, इन बातों के साथ हमारी सहमति है। जिन बातों के साथ सहमति है, उनकी हम प्रशंसा कर सकते हैं। उनके ऐसे कार्यों की प्रशंसा न करें जिनके साथ हमारी सहमति नहीं है।

प्रश्न : जो आपको गुरु मानता है, उस पर किसी अन्यतीर्थी, संन्यासी अथवा प्रचारक का प्रभाव है। वह प्रचारक यदि उसके क्षेत्र में आता है तो व्यावहारिकता के नाते वह श्रावक उसके आयोजन में बढ़-चढ़ कर भाग लेता है। यद्यपि वह यह भी जनता है कि यह प्रचारक मेरे धर्म शासन और धर्म गुरु की निन्दा करता है। ऐसी स्थिति में वह श्रावक वहां जाता है तो क्या उसका सम्यक्त्व दूषित नहीं होता?

उत्तर : जो व्यक्ति अपने गुरु की निन्दा करने वाला हो, उसे महत्त्व नहीं देना चाहिए। यह विवेक रखने की अपेक्षा है। हमारे गुरु शुद्ध हैं, परन्तु जो अपने द्वेष के कारण उनकी निन्दा करते हैं तो ऐसे धर्म प्रचारक हों अथवा कोई साधु-संन्यासी हों, उन्हें महत्त्व नहीं देना चाहिए। श्रीमज्जयाचार्य के समय का प्रसंग है। जोधपुर के बादरमलजी भंडारी शासनभक्त और जागरूक श्रावक थे। जोधपुर में साधु-साध्वियों के न होने पर उपाश्रयों में यति व्याख्यान देते थे। बादरमलजी वहां जाते थे, पर उन्होंने यतिजी से यह स्पष्ट कह रखा था कि हम आपका व्याख्यान सुनते हैं। आप जानते हैं कि मैं तेरापंथी हूं, अपने धर्म और धर्म गुरु के प्रति दृढ़ श्रद्धा रखता हूं। इसलिए आप कभी तेरापंथ की निन्दा-आलोचना न करें। यदि ऐसा कुछ हुआ तो हम उपाश्रय में नहीं आएंगे। एक दिन भंडारीजी कुछ विलम्ब से पहुंचे। उपाश्रय में प्रवेश करते ही उन्हें तेरापंथ की आलोचना सुनाई दी। वे भीतर गए और यतिजी से कहा—आज के बाद उपाश्रय में आने का त्याग है।

इसी तरह जो शासन की उतरती बात करे, निन्दा करे, द्वेषभाव रखे, उनसे हमें सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। यह बात भी ध्यान में रहे कि जो शासन से बहिर्भूत हैं, बहिष्कृत हैं, वे भले मुखवस्त्रिका रखते हों अथवा न रखते हों, ऐसे व्यक्तियों को महत्त्व नहीं देना चाहिए। हमारा उनसे कोई द्वेष नहीं, उनके प्रति कोई अमंगल की भावना भी नहीं है, परन्तु हमारे शासन की एकता, निष्ठा के लिए ऐसे व्यक्तियों को प्रश्रय देना उचित नहीं है। ऐसे व्यक्तियों से सम्पर्क रखने में श्रावकों को भी विवेक रखना चाहिए।

प्रश्न : जो सही रास्ता नहीं बताता है, उसे पाखण्डी कहा जाता है। यहां परपाखण्डी क्यों कहा गया है?

उत्तर : पाखण्ड तो एक प्रकार का सिद्धांत या मत होता है। अपने मत से जो भिन्न होता है, वह परपाखण्ड होता है। जैसे स्व-समय और पर-समय होता है, वैसे ही पाखण्ड और पर-पाखण्ड होता है। पाखण्ड तो एक अच्छा शब्द है। वर्तमान में पाखण्ड शब्द का अपकर्ष हो गया। प्राचीन समय में पाखण्ड शब्द आम्नाय अर्थ में रहा है।

प्रश्न : सम्यक्त्व के दूषण का सम्बन्ध नैश्चयिक सम्यक्त्व के साथ है अथवा व्यावहारिक सम्यक्त्व के साथ है अथवा दोनों के साथ है?

उत्तर : सम्यक्त्व के दूषण हमारे नैश्चयिक सम्यक्त्व को भी बाधित करने वाले बन सकते हैं, क्योंकि इनसे आस्था गलत हो जाती है। यदि कषाय की मन्दता है तो समझना चाहिए कि हमारा व्यावहारिक सम्यक्त्व पुष्ट है, तब वह दूषित नहीं होगा। अगर व्यक्ति में दूषण हैं तो व्यावहारिक सम्यक्त्व दूषित होता ही है, साथ में नैश्चयिक सम्यक्त्व भी उससे दूषित हो सकता है।

प्रश्न : हमारी श्रद्धा अपने संघ के प्रति है, इसी प्रकार दूसरे सम्प्रदाय वाले व्यक्तियों की श्रद्धा अपने संघ के प्रति होती है तो उनके सम्यक्त्व के विषय में हमारी क्या अवधारणा है?

उत्तर : हमने तो अपने शासन को ठीक मानकर स्वीकार किया है। उनका अपना मत है। हम दूसरों की आलोचना क्यों करें? हमारी दृष्टि में जो बात ठीक नहीं है, उसके प्रति होने वाली आस्था को भी हम तो गलत ही मानेंगे। वैसे हमारा किसी से कोई द्वेष नहीं है। सब अपना-अपना काम करें, हमें कोई दिक्कत नहीं है।

प्रश्न : तेरापंथ धर्म में आस्था रखने वाले यदि मन्दिर आदि के निर्माण में, तीर्थयात्राओं में सक्रिय रूप से भाग लें तो क्या सम्यक्त्व को खतरा नहीं है?

उत्तर : सम्यक्त्व का सम्बन्ध सम्यक् ज्ञान और सम्यक् श्रद्धा के साथ होता है। यदि यह आस्था हो जाए कि मूर्तिपूजा करना, द्रव्य पूजा करना धर्म है तो वह तेरापंथ की मान्यता के अनुसार बिल्कुल गलत है। हमारे अनुसार यह सम्यक्त्व को दूषित करने वाला तत्त्व है। हम लोग भी कई बार दूर-दूर की यात्राएं करते हैं। हमारे साधु साध्वियां भी सम्मेद शिखर, पालीताणा आदि स्थानों को देखने के लिए जाते हैं, परन्तु हमारी आस्था यह नहीं है कि द्रव्य पूजा में धर्म है। स्थान विशेष को देखने के लिए जाना एक अलग बात है और द्रव्य पूजा को स्वीकार करना अलग बात है। द्रव्य पूजा को मान्यता देना तेरापंथ के सम्यक् दर्शन को खंडित करने वाला या दूषित करने वाला तत्त्व है।

प्रश्न : आचार्यवर ने फरमाया कि किसी श्रावक के मन में कोई दुविधा होती है तो वह अन्य देवी-देवताओं के स्थान पर जाता है। उसी प्रकार एक श्रावक मन्दिर की प्रतिष्ठा में ध्वजा आदि की बोली लगाए, उसके लिए दान दे तो क्या वह सम्यक्त्व का दूषण है?

उत्तर : ऐसा करने से व्यवहार में यह लगेगा कि यह मन्दिरमार्गी सम्प्रदाय का व्यक्ति है। जो मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते, वे व्यक्ति अगर मन्दिर की ध्वजा, मन्दिर की बोली आदि लगाते हैं तो मानना चाहिए कि वे मूर्तिपूजा को प्रश्रय दे रहे हैं। मूर्तिपूजा को प्रश्रय देने

का मतलब हो गया अपनी मान्यता को खण्डित करना। इसलिए तेरापंथी श्रावक श्राविका को इस बात के लिए जागरूक रहना चाहिए कि हम ऐसा कोई कार्य न करें, जिससे हमारी श्रद्धा कमजोर हो, मान्यता खण्डित हो। यदि कभी कोई संबंधी यह कह भी दे कि आपको बोली आदि लगानी चाहिए तो आप स्पष्ट कह सकते हैं कि हमारा मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं है, इसलिए हम ऐसा नहीं करेंगे। वहां यह नहीं होना चाहिए कि हम साथ बैठते हैं, इसलिए व्यवहार निभाना पड़ता है। धर्म व्यवहार नहीं, धर्म अध्यात्म है। अध्यात्म में व्यवहार कैसा?

एक तेरापंथी श्रावक था। उसके पास मूर्तिपूजक लोग आए। उन्होंने कहा—हम मन्दिर बनवा रहे हैं। उसमें आपका भी आर्थिक योगदान होना चाहिए। उसने कहा—आप हमारे सम्बन्धी हैं, रिश्तेदार हैं। अगर आप कोई अस्पताल बनाओ, विद्यालय बनाओ तो उसमें मेरा पूरा योगदान रहेगा, किन्तु मन्दिर निर्माण में मैं कोई आर्थिक योगदान नहीं दे सकता। चूंकि मैं अमूर्तिपूजक परम्परा से हूं, मन्दिर में मेरा विश्वास नहीं है।

प्रश्न : कई क्षेत्र ऐसे हैं, जहां तेरापंथी परिवार ही हैं। वहां मन्दिर का निर्माण, मन्दिर की प्रतिष्ठा तेरापंथ समाज के द्वारा होती है। यह कहां तक उचित है?

उत्तर : तेरापंथी श्रावकों का मन्दिर-निर्माण आदि में योगदान नहीं होना चाहिए। यदि तेरापंथ समाज द्वारा ऐसा होता है तो वह अनुचित है। हम अपनी मान्यता को इधर-उधर न करें। समन्वय का मतलब समर्पण नहीं है। समन्वय का मतलब है हम एक-दूसरे को समझें, राग-द्वेष न करें, किन्तु हम एक-दूसरे की मान्यता के प्रति समर्पित नहीं हैं। इसलिए हर श्रावक-श्राविका को इस विषय में विशेष जागरूकता रखनी चाहिए।

प्रश्न : मन्दिरमार्गी समाज में संघ निकालने की परम्परा है। यदि

तेरापंथी भाई भी ऐसा संघ निकालते हैं तो क्या यह उचित है?

उत्तर : साथ जाना अलग बात है, किन्तु अपनी ओर से संघ निकालना अनुचित है, क्योंकि तेरापंथ अमूर्तिपूजक परम्परा का आम्नाय है। अमूर्तिपूजा को मानने वाला यदि मूर्तिपूजा को प्रश्रय देता है तो मानना चाहिए कि वह अपनी मान्यता को कमजोर करता है। जिस आम्नाय को हमने स्वीकार किया है, उसका जो सिद्धान्त है, मान्यता है, उसे हमें कमजोर नहीं करना चाहिए।

७

इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं

दर्शनाचार प्रवचनमाला के अन्तर्गत सातवां विवेच्य विषय है–**इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं।** यह आर्षवाणी का एक महत्त्वपूर्ण सूक्त है। इसके भीतर आस्था का प्राण है। शब्द तो जड़ होते हैं। शब्द में जो अर्थ होता है, वह बलवान और महत्त्वपूर्ण होता है। शब्द और अर्थ का गहरा संबंध होता है। जो व्यक्ति अंग्रेजी भाषा को नहीं जानता, उसको यदि अंग्रेजी में सौ गालियां भी दे दी जाए तो उस पर कोई असर नहीं होगा। अर्थ के आधार पर शब्द का मन पर असर होता है। जिस शब्द का अर्थ ज्ञात नहीं होता, उसे कोई कह भी दे तो सुनने वाले के मन पर वह असर नहीं होता जो अर्थ के समझने पर होता है। जब अर्थ का बोध होता है, तब शब्द अपना असर दिखाता है।

इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है। इसमें श्रद्धा और समर्पण का बल बोल रहा है। निर्ग्रन्थ यानी वीतरागता का प्रवचन, ग्रंथि मुक्त आत्मा का प्रवचन। जहां राग-द्वेष होता है, वहां असत्य को स्थापित होने का मौका मिलता है। यदि राग-द्वेष नहीं है तो आदमी असत्य बात कह नहीं सकता। निर्ग्रन्थ व्यक्ति जो कुछ कहेगा, वह सत्य ही होगा। इसमें कहीं कोई आशंका को अवकाश नहीं है। सग्रन्थ प्रवचन सत्य हो या न भी हो, किन्तु निर्ग्रन्थ प्रवचन तो सत्य ही होगा। हमें सग्रन्थ प्रवचन नहीं चाहिए। हमें निर्ग्रन्थ प्रवचन चाहिए। इसका एक तात्पर्यार्थ यह निकाला जा सकता है कि निर्ग्रन्थ प्रवचन ही जिनशासन है। सम्यक्त्व के संदर्भ में यह एक महत्त्वपूर्ण आस्था का सूत्र है। सम्यक्त्व को ऐसे सूत्रों से पोषण प्राप्त हो

सकता है। ऐसे सूत्रों की अनुप्रेक्षा की जाए तो हमारा सम्यक्त्व और ज्यादा विमल और निर्मल बन सकता है। योगशास्त्र में सम्यक्त्व के पांच भूषण बतलाए गए हैं–

स्थैर्यं प्रभावना भक्तिः, कौशलं जिनशासने।
तीर्थसेवा च पञ्चास्य, भूषणानि प्रचक्षते।।

शरीर को शोभित करने के लिए आदमी आभूषण पहनता है। यद्यपि साधु निराभूषण होते हैं, फिर भी सहज शोभायमान होते हैं। शरीर को बाह्य आभूषणों से शोभित करने का प्रयास विशेष उपयोगी नहीं होता, क्योंकि वह स्थायी नहीं है। आदमी कान को कुंडल से शोभित करने की अपेक्षा श्रुत-श्रवण से शोभित करने का प्रयास करे। यद्यपि हाथ कंगन से शोभित होता है, किन्तु उससे भी ज्यादा वह दान से शोभित होता है। शरीर चन्दन की अपेक्षा परोपकार से कहीं ज्यादा शोभित होता है। शरीर हमारा दूसरों को दुःख देने वाला नहीं, दूसरों के लिए समस्या पैदा करने वाला नहीं, दुःख दूर करने वाला और समस्या का समाधायक बने।

जीवन में जितना महत्त्व शरीर का है, अध्यात्म में उतना ही महत्त्व सम्यक्त्व का है। मन्दिरों में प्रतिमा को विभूषित किया जाता है। हम सम्यक्त्व की प्रतिमा को विभूषित करने का प्रयास करें। उसके लिए पांच आभूषण निर्दिष्ट हैं–

- स्थैर्य–धर्म में स्थिर रहना।

व्यक्ति स्वयं धर्म में स्थिर रहता हुआ दूसरों को धर्म में स्थिर करे। धर्म में कितनी स्थिरता और दृढ़ता हो सकती है, इसका जीवन्त उदाहरण है–अर्हन्नक। जहाज के डूबने की स्थिति हो गई, परन्तु अर्हन्नक अस्थिर नहीं हुआ। मानो, उसने स्थैर्य का आभूषण पहन रखा हो। देवता के द्वारा मृत्यु का भय दिखाने पर भी अर्हन्नक ने कहा– कुछ भी हो जाए, मैं धर्म को नहीं छोड़ सकता। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा है–

धर्म ना वह वस्त्र जो ओढ़ा उतारा जा सके।
धर्म है वह चेतना जो भिन्नता न कभी सहे।।

धर्म कोई ऐसा वस्त्र नहीं है कि सर्दी आई तो ओढ़ लिया और गर्मी में

उतार दिया। धर्म का मतलब है—सम्यक्त्व। ऐसा न हो कि वह कभी आए और कभी चली जाए। सम्यक्त्व हमेशा हमारे पास रहे। वह न रात में हमसे दूर हो, न दिन में दूर हो। हमारा सम्यक्त्व स्थिर रहे। हमें लगे कि दूसरे में अस्थिरता आ रही है तो हम उसको भी स्थिर करने का प्रयास करें। परम पूज्य गुरुदेव तुलसी विक्रम संवत् २०३५ के अन्त में या ३६ के प्रारंभ में दिल्ली पधारे। वहां से विहार करने के बाद गुरुदेव के पास संवाद पहुंचा कि दिल्ली में प्रवासित मुनि अस्थिर हो रहा है। तब गुरुदेव ने मुनिश्री मधुकरजी स्वामी और मुनिश्री किशनलालजी स्वामी को अणुव्रत-भवन भेजा। वे रात में वहां रहे। उन मुनिजी से चर्चा-वार्ता की। फिर वे मुनिजी गुरुदेव के दर्शन करने भी पहुंच गए। कहने का तात्पर्य यह है कि जहां अस्थिरता लगे, वहां स्थिरता पैदा करने का प्रयास करना चाहिए। श्रद्धा डांवाडोल हो जाए तो उसको मजबूत करने का प्रयास करना चाहिए। यह सम्यक्त्व का पहला आभूषण है।

● प्रभावना—धर्म की महिमा बढ़ाना।

तपस्या, साधना और प्रवचन आदि के द्वारा धर्म की महिमा को बढ़ाना चाहिए। हमारे साधु-साध्वियां और समणश्रेणी के सदस्य जगह-जगह जाते हैं, प्रवचन करते हैं, व्याख्यान देते हैं, जिससे धर्म की महिमा बढ़ती है। जिनमें प्रवचन की कला विशिष्ट होती है, वे लोगों को ज्यादा प्रभावित करते हैं।

● भक्ति—धर्मशासन के प्रति भक्ति रखना।

चएज्ज देहं न हु धम्मसासणम्—मैं शरीर को भले छोड़ दूं, किन्तु धर्मशासन को नहीं छोड़ूंगा, यह शासन के प्रति भक्ति, अर्हतों के प्रति भक्ति है। हम प्रतिदिन दो बार अर्हत् वंदना का संगान करते हैं, समय कोई जाप करना शुरू कर दें, परस्पर बातें करने लगें, कोई चितारना शुरू कर दें तो यह अच्छी बात नहीं है। यह अर्हत् वन्दना की आशातना है। समय तो अर्हत् वन्दना का है और हम दूसरे काम में लग गए, अजागरूक बन गए, निद्रालीन हो गए तो अर्हत् वन्दना का लाभ कैसे मिलेगा। अर्हत् वन्दना के दौरान संभव हो तो वंदनासन में बैठें और पंक्तिबद्ध बैठें। हमारा अर्हत् वन्दना का स्वरूप परिष्कृत

हो, ऐसी अपेक्षा लगती है। कदाचित् अर्हत् वन्दना में न आ सकें तो जहां हैं वहीं से अर्हत् वन्दना करने का यथासंभव प्रयास करें। यह अर्हत्-भक्ति, परमेष्ठी-भक्ति का प्रयोग है। अर्हतों, सिद्धों और आचार्यों के प्रति भक्ति की भावना रहनी चाहिए। पूर्ववर्ती दसों आचार्यों के प्रति हमारे मन में भक्ति की भावना रहे, गौरव का भाव रहे।

जो साधु-साध्वियां चातुर्मास करके गुरुकुलवास में आते हैं, तब गीत आदि गाते हैं, भाषण बोलते हैं। मुझे तो लगता है कि वह भी आचार्य के प्रति, शासन के प्रति भक्ति का प्रयोग है। गीत अथवा वक्तव्य के माध्यम से उनकी भक्ति प्रकट होती है। अपने साधर्मिक के प्रति भी भक्ति की भावना रहे। यदि दूसरे गांव से संत आ रहे हों तो पहले से जो संत वहां हैं, वे उनके सामने जाएं, उनकी भक्ति करें। साधु आए तो साधुओं को सामने जाना चाहिए। साध्वियां आए तो साध्वियों को सामने जाना चाहिए। इसमें विपर्यास नहीं होना चाहिए। श्रावक-श्राविकाओं के लिए भी यह अपेक्षित है कि साधु दूसरे गांव से अपने गांव में आ रहे हैं तो उनके सामने जाकर दर्शन करें, रास्ते की सेवा करें। यह हमारी अच्छी परम्परा है और यह भक्ति का प्रयोग भी है। श्रावकों को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि साध्वियां विहार करें और अगले गांव के लोग जब तक न आ जाएं, तब तक पिछले गांव के लोग उनके साथ रहें। साधुओं की तो फिर भी मैं इतनी चिन्ता नहीं करता, किन्तु साध्वियों को तो विशेष रूप से अकेला नहीं छोड़ना चाहिए। मेवाड़ के श्रावकों की तो यह पुरानी रीत रही है कि वे साधु-साध्वियों की पैदल चलकर रास्ते की सेवा करते थे। वे साधु-साध्वियों को अकेला नहीं छोड़ते थे। मेवाड़ की यह अच्छी विशेषता है। इस विशेषता में कमी नहीं आनी चाहिए।

● कौशल—धर्म की जानकारी प्राप्त करना।

जिनशासन के बारे में जानकारी रहे, धर्म की जानकारी रहे और जानकारी भी कैसी? मद्दुक श्रावक जैसी, तुंगिया नगरी के श्रावकों जैसी। निर्ग्रन्थ प्रवचन में उनकी अटूट आस्था थी। भगवती सूत्र में तुंगिया नगरी के श्रावकों का वर्णन मिलता है।

तुंगिया नगरी में एक बार भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के स्थविर

आए। वहां के तत्त्वज्ञ श्रावक उनका प्रवचन सुनने गए। स्थविरों ने उनको चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया। श्रावकों के मन में कुछ जिज्ञासाएं हो गईं। उन्होंने विनयपूर्वक पूछा—भंते! संयम का फल क्या है? तपस्या का फल क्या है? स्थविरों ने कहा—आर्यों! संयम से अनाश्रव होता है, नए कर्मों का निरोध होता है और तपस्या से व्यवदान होता है, पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है। श्रावकों ने फिर प्रश्न किया—भंते! यदि संयम का फल अनाश्रव और तप का फल व्यवदान है तो फिर देवता देवलोक में किस कारण से उत्पन्न होते हैं? स्थविरों ने उत्तर दिया—आर्यों! पूर्वकृत तप, पूर्वकृत संयम, कर्म की सत्ता और अनासक्ति के कारण देवता देवलोक में उत्पन्न होते हैं। हमारे श्रावक भी तुंगिया नगरी के श्रावकों जैसे बनें, कौशल को प्राप्त करें, तत्त्वज्ञान को प्राप्त करें और जिनशासन और धर्मशासन की गतिविधियों की जानकारी रखने वाले बनें।

● तीर्थसेवा—साधु-संघ की उपासना करना।

साधु-साध्वियों की सेवा करना और श्रावक-श्राविकाओं की भी आध्यात्मिक सेवा करना तीर्थसेवा है। यह सेवा करना भी सम्यक्त्व को पुष्ट बनाने का और सम्यक्त्व को विभूषित करने का एक उपाय है। गांव में साधु-साध्वियां हों तो श्रावक-श्राविकाओं को उनकी उपासना करनी चाहिए। यथावसर आचार्यों की भी उपासना करनी चाहिए। कई श्रावक-श्राविकाएं तो गुरुकुलवास में चार महीने सेवा करते हैं। मैं उनको साधुवाद देता हूं। वे अपने अच्छे-अच्छे बंगलों को छोड़कर कुटीरों आदि में रहकर सेवा करते हैं। लंबे काल तक गुरु की, आचार्यों की सेवा-उपासना में रहना, उनके जीवन की एक बड़ी उपलब्धि होती है। इन पांच प्रकार के आभूषणों से हम अपने सम्यक्त्व को विभूषित करें और यह आस्था रखें कि निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है।

प्रश्न : भंते! सम्यक्त्व का एक भूषण है प्रभावना। चमत्कारी विद्याओं से प्रभावना होती है। जैन परम्परा अथवा हमारी संघीय परम्परा में धर्म की प्रभावना के लिए चमत्कारी विद्याओं का प्रयोग करना वर्जित है। यदि कोई ऐसा करता है तो वह

प्रायश्चित्त का अधिकारी अथवा विराधक बनता है, ऐसा क्यों?

उत्तर : एक होती है तात्कालिक प्रभावना और दूसरी होती है स्थायी प्रभावना कई बार तात्कालिक प्रभावना अप्रभावना करने वाली भी हो सकती है। जैसे किसी साधु ने भौतिक समृद्धि, सन्तान प्राप्ति आदि के लिए किसी को मंत्र बता दिया, परन्तु यह बात जब किसी जानकार श्रावक के ध्यान में आती है तो उन्हें लगता है कि ये कैसे साधु हैं जो भौतिक मंत्रों के झंझट में पड़े हुए हैं। इससे उनकी आस्था में कमी भी आ सकती है। हम ऐसे मंत्र बताएं, जिन मंत्रों से आत्मा का कल्याण हो सके, किसी का सम्यक्त्व निर्मल बन सके, कोई अध्यात्म की साधना में आगे बढ़ सके। हमें भौतिक प्रभावना में नहीं फंसना चाहिए। हम तपस्या करें, आगम का स्वाध्याय करें और अपनी साधना को तेजस्वी बनाएं तो जैनशासन की प्रभावना बढ़ सकेगी।

प्रश्न : अभी आपने फरमाया कि मंत्र आदि के प्रयोग से बचना चाहिए, लेकिन इतिहास बताता है कि आचार्य मानतुंग, हेमचन्द्राचार्य आदि प्राचीन आचार्यों ने मंत्रों के प्रयोग से जैनधर्म की प्रभावना को बढ़ाया है और उससे जैनधर्म विस्तृत भी हुआ है तो क्या यह मंत्र प्रयोग उचित नहीं है?

उत्तर : हम किसी भी आचार्यों की आशातना करना नहीं चाहते, परन्तु हमें यह ध्यान देना है कि प्रभावना में स्थायित्व या निरवद्यता है या नहीं। कदाचित् किसी विशेष स्थिति में कुछ करना पड़े तो वह अलग बात हैं। जैसे, कोई साधु बीमार हो गया और उसे स्वस्थ करने के लिए कोई मंत्र बता दिया तो यह कोई बुरी बात नहीं है। मेरा मंतव्य है कि जहां केवल भौतिक प्रभावना की बात हो, वहां हमें मंत्र-प्रयोग का निर्देश नहीं देना चाहिए।

प्रश्न : अगर कोई श्रावक तीर्थसेवा करना चाहता है लेकिन वह आर्थिक दृष्टि से अथवा स्वास्थ्य की दृष्टि से सक्षम नहीं होने

के कारण वह केन्द्र में नहीं आ सकता और न ही वह अपने स्थानीय स्तर पर इस तरह का कोई उपक्रम कर सकता है, ऐसी स्थिति में वह तीर्थसेवा के भूषण को कैसे साध सकता है?

उत्तर : केन्द्र में आए बिना भी अनेक प्रकार से तीर्थसेवा की जा सकती है। जैसे, घर में बच्चों को धर्म के संस्कार देना, किसी को नौ तत्त्वों आदि की जानकारी देना, चारित्रात्माओं को शुद्ध दान देना आदि। जिसके जो अनुकूल हो, वह उस रूप में तीर्थसेवा करे।

प्रश्न : कभी-कभी श्रावक छोटी-छोटी बातों को लेकर अस्थिर हो जाते हैं तो ऐसे कौन-से माध्यम हो सकते हैं, जिनके द्वारा हम उनको धर्मशासन में पुनः स्थिर कर सकें?

उत्तर : किसी बीमारी का एक ही ईलाज नहीं होता। पहला प्रयास तो यह होना चाहिए कि हम उसके मन की सारी बातों को धैर्य के साथ सुनें। अनेक बार तो गलतफहमियां होती हैं। उन गलतफहमियों को दूर कर दिया जाए और उसके मन में कोई शंका हो तो सही बात बताकर उसके मन को स्थिर कर दिया जाए। कई बार लोग कहते हैं कि हम तो केन्द्र में गए थे साधु-साध्वियों ने हमें बतलाया ही नहीं, जीकारा ही नहीं दिया, इसलिए अब हम वहां नहीं जाएंगे। इस प्रकार के विचारों वाले व्यक्ति को यह समझाएं कि यह तुम्हारा चिन्तन ठीक नहीं है। यह तो तुम्हारे चिन्तन की तुच्छता है। कई बार समझाने से बात समझ में आ जाती है, फिर भी कभी कोई न समझे तो उसे हमारे पास ले आओ। हम उससे बात करेंगे। गुरु द्वारा थोड़ा-सा वात्सल्य मिलने पर मन की बात सारी साफ हो सकती है।

प्रश्न : यदि कोई श्रावक यह संकल्प करे कि मैं अपनी आय का पांच प्रतिशत संघ की सेवा में या संघ की प्रभावना में लगाऊंगा तो क्या यह भी धर्म प्रभावना अथवा संघ प्रभावना है?

उत्तर : किसी को दान देना लौकिक सेवा है, आध्यात्मिक सेवा नहीं। सम्यक्त्व की पुष्टि के लिए आध्यात्मिक प्रभावना की जरूरत है। किसी संस्था में दान देना लौकिक सेवा के रूप में स्वीकृत है।

प्रश्न : तेरापंथ के अनुयायी भी तीर्थयात्राएं कराते हैं, यह तीर्थसेवा के अंतर्गत आता है या नहीं?

उत्तर : साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका की आध्यात्मिक सेवा करना तीर्थसेवा है, घूमना तीर्थसेवा नहीं है।

प्रश्न : जैसे, श्रावक समाज साधु-साध्वी को दान आदि देकर तीर्थ सेवा करता है, वैसे साधु-समाज किस रूप में श्रावक-श्राविका की तीर्थसेवा कर करता है?

उत्तर : हमारे साधु-साध्वियां व्याख्यान देते हैं, तत्त्वज्ञान बताते हैं, गोचरी करते हैं, लोगों की समस्या का समाधान करते हैं, सम्यक्त्व की बात बताते हैं, यह सब तीर्थसेवा है।

प्रश्न : हर व्यक्ति तत्त्वज्ञान की गहरी बात समझकर अपनी आस्था को मजबूत कर सके, यह संभव नहीं है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनको मंत्र आदि बताकर उनके मन की मुराद पूरी कर दी जाती है तो उनकी आस्था मजबूत हो सकती है। क्या ऐसा करना हमारे लिए उचित है?

उत्तर : मन की मुराद किस तरह की है यह देखना होगा। कोई यह कहे कि आप मुझे ऐसा मंत्र बताओ, जिससे मेरे पोता हो जाए, यह मुराद आध्यात्मिक नहीं है। यह तो भौतिक बात है। ऐसी भौतिक बातों के आकर्षण में आ जाने से सम्यक्त्व कमजोर पड़ सकता है। हमारी आस्था मजबूत होनी चाहिए और अध्यात्म के प्रति होनी चाहिए।

प्रश्न : 'इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं' यह हमारी साधना का आधार है। श्रीकृष्ण कहते हैं–'मामगं शरणं व्रज' मेरी शरण में आओ तुम्हारा उद्धार होगा। प्रायः हर परम्परा ऐसी विचारधारा पर बल देती है। क्या यह कहना एकान्तवाद नहीं हैं?

उत्तर : एकान्तवाद सब जगह बुरा नहीं होता। निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है। इसमें किसी का नाम नहीं है। जो भी राग-द्वेष से मुक्त हैं, उनको निर्ग्रन्थ कहा गया है और उन पवित्र आत्माओं के वचनों को ही सत्य माना गया है। गीता में जो श्रीकृष्ण ने कहा है वह इस बात का द्योतक है कि जिसे हम भगवान के रूप में मानें, राग-द्वेष से मुक्त मानें, उसकी शरण को स्वीकार कर लें। भगवान की शरण में तो कल्याण निश्चित है।

८

संघनिष्ठा का विकास

दर्शनाचार प्रवचनमाला के अन्तर्गत अन्तिम विवेच्य विषय है—**संघनिष्ठा का विकास।** दो प्रकार की साधना पद्धतियां निर्दिष्ट हैं—१. व्यक्तिगत साधना २. संघबद्ध साधना। एक समय था जब वैयक्तिक साधना मान्य थी, परन्तु वर्तमान समय में वैयक्तिक साधना का अथवा एकाकी साधना का प्रयोग या एकल विहार का प्रयोग लगभग वर्जित है। हमने जो पद्धति स्वीकार की है, वह संघबद्ध साधना की पद्धति है। संघ बड़ा आलम्बन होता है, कठिनाई में उससे सहारा मिलता है, विषम स्थिति में पथदर्शन भी प्राप्त होता है। समूह का अपना बल होता है। हमारे धर्मसंघ में संघबद्ध साधना भी काफी व्यवस्थित है। महामना आचार्य भिक्षु ने ऐसा विधान रचा, जो वरदान बन गया। उन्होंने ऐसी मर्यादाओं का निर्माण किया, जो संघ की सुरक्षा प्रहरी बनी हुई हैं। जो संघ में साधना करते हैं, उनका कर्त्तव्य है कि वे संघीय चेतना को विकसित रखें, सामुदायिक चेतना का विकास करें। वहां व्यक्ति गौण है, संघ मुख्य है। मैं तो सोचता हूं कि आचार्यों से भी बड़ा संघ है, शासन है। शासन का ही कोई साधु आचार्य पद को सुशोभित करता है। शासन है तो आचार्यों का मूल्य है। शासन के बिना आचार्यों का कितना और क्या मूल्य होगा? तेरापंथ है तो तेरापंथ के अधीश का मूल्य है। तेरापंथ ही न हो तो अधीश का फिर क्या मूल्य होगा? इसलिए संघपति की अपेक्षा संघ और शासन की महत्ता ज्यादा है। इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए गुरुदेव तुलसी ने कहा—

प्रभो! यह तेरापंथ महान्।
मिला, मिलेगा जिससे सबको आध्यात्मिक अवदान।।
आर्हत् वाङ्मय का उद्गाता,
जीवन-दर्शन का व्याख्याता।
मानव संस्कृति का निर्माता,
जिसके कण-कण में मुखरित है शाश्वत का संगान।।

तेरापंथ शासन महान् है। संघपति शासन के प्रतिनिधि होते हैं, शासन के प्रतीक होते हैं और शासन के अनुशास्ता भी होते हैं, इसलिए शासन के पीछे शासनपति का महत्त्व होता है। चूंकि वे आज्ञा के धारक, आज्ञा प्रदान करने वाले, निर्देश देने वाले और संघ रूपी जहाज को चलाने वाले होते हैं, इसलिए आचार्यों का भी बड़ा महत्त्व है। जिस संघ में हम जी रहे हैं, उसके प्रति हमारे मन में अपनत्व का भाव होना चाहिए।

परमपूज्य गुरुदेव तुलसी ने कर्त्तव्यषट्त्रिंशिका में कहा है–

गणोऽयमहमेवास्मि, अहमेव गणोऽस्त्ययम्।
ऐक्यं ममास्य चान्योन्यं, चिन्तनीयमिति ध्रुवम्।।

यह गण मेरे लिए और मैं गण के लिए हूं। मेरा और गण का परस्पर अविच्छिन्न संबंध है। बार-बार यही बात सोचनी चाहिए।

व्यक्ति स्थायी नहीं होता। जो व्यक्ति कल था, वह आज नहीं है और जो आज है, वह कल नहीं रहेगा। व्यक्ति तो आते हैं और चले जाते हैं, परन्तु संघ चिरस्थायी है। लगभग दो सौ इक्यावन वर्षों से हमारा संघ चला आ रहा है और हम मंगलकामना करते हैं कि हमारा धर्मसंघ लम्बे काल तक चलता रहेगा। संघ का हित हो, भला हो, विकास हो, यह निष्ठा हमारे मन में रहनी चाहिए। प्रथम मंत्रीमुनि श्री मगनलालजी स्वामी की संघीय भावना उल्लेखनीय है। एक बार वे सरदारशहर में विराजमान थे। एक परिवार उनके पास मंगलपाठ सुनने आया। मगनलालजी स्वामी ने पूछा–कहां जा रहे हो? उन्होंने कहा–आचार्यश्री की सेवा में जा रहे हैं। तब मगनलालजी स्वामी ने फरमाया–आचार्यश्री की सेवा करना अच्छी बात है, पर अभी एक साध्वियों का सिंघाड़ा आ रहा है। उनकी सेवा कौन करेगा? उन्होंने साध्वियों के

सिंघाड़े को अधिक महत्त्व दिया। आचार्यों की सेवा में जाने वालों को साध्वियों की सेवा करने का इंगित प्रदान किया।

हमारे द्वारा ऐसा कोई कार्य न हो, जिससे संघ का अहित हो। संघ के प्रति हमारी निष्ठा इतनी हो कि जीएंगे तो संघ में और मरेंगे तो संघ में। यह भी कहा जा सकता है कि शासन के लिए ही जीएंगे और शासन के लिए ही मरेंगे। हमारे भीतर शासन की प्रति निष्ठा की भावना पुष्ट रहनी चाहिए। पदोन्नति, सम्मान या व्यवस्था की बातों को लेकर संघ को छोड़ने का विचार सपने में भी नहीं आना चाहिए।

हमें भाग्य से ऐसा शासन मिला हुआ है। कोई निकट का व्यक्ति भी यदि संघ से अलग होने का विचार करे तो हमें उसका भी साथ नहीं देना चाहिए। उसे यह बताना चाहिए कि तुम संघ में रहो तो हम तुम्हारे साथ हैं। यदि तुम संघ छोड़ते हो तो हमारा तुमसे कोई संबंध नहीं है। हमारा संबंध व्यक्ति के साथ नहीं, शासन और शासनपति के साथ है। यह निष्ठा छोटे-बड़े सभी साधु-साध्वियों में रहनी चाहिए। हम जिनशासन और भिक्षुशासन की जहाज में बैठे हैं। इस जहाज से अलग होने का चिन्तन कभी भी हमारे दिमाग में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए।

शासन में हमारे पांव मजबूत रहें। भले ही उलाहना मिल जाए, डांट पड़ जाए, परिषद् के बीच अपमानित कर दिया जाए, इन सबको विनय भाव से झेलना चाहिए और शासन में जमे रहने का संकल्प हमारे दिलोदिमाग में पुष्ट रहना चाहिए।

उन साधु-साध्वियों को मैं बार बार साधुवाद देना चाहता हूं, जो मौके पर निष्ठा के साथ शासन में जमे रहे। किसी भी परिस्थिति में वे अलग नहीं हुए। उन्होंने शासन के प्रति कितनी निष्ठा रखी है। वर्तमान और भविष्य में भी ऐसी शासननिष्ठा हम सभी में बनी रहे।

हम शासन की सेवा में अपनी शक्ति का नियोजन करते रहें। गुरु किसी कार्य का निर्देश दे तो उसे अहोभाव के साथ स्वीकार करना चाहिए।

पृष्ठो गुरुभिराहूतो, निर्दिष्टोऽभीष्टकर्मणि।
मन्वानो भागधेयं स्वं, धन्यं धन्यस्तथाचरेत्।।

यदि शिष्य को गुरु कोई बात पूछे या कार्यवश अपने पास बुलाए अथवा किसी आवश्यक कार्य को करने का आदेश दे तो शिष्य अपना परम सौभाग्य समझता हुआ सहर्ष निर्दिष्ट कार्य में प्रवृत्त हो।

गुरु शासन के अभिन्न अंग हैं, शासन के अनुशास्ता हैं। गुरु की भक्ति शासन के प्रति भक्ति है। शासन-भक्ति का एक प्रकार है—वृद्ध, ग्लान साधु-साध्वियां की सेवा। संघ के हर सदस्य में सेवा की भावना रहनी चाहिए। प्रत्येक साधु-साध्वियां भावना भाएं कि मुझे वृद्ध और ग्लान की सेवा का मौका मिले। साधु की सेवा मुख्यतया साधु करता है। एक साधु को अपेक्षा हो तो दूसरे साधु को उसकी सेवा के लिए अहोभाव के साथ तैयार रहना चाहिए। जब भी हमें सेवा का मौका मिले तो उसको भार नहीं, उपहार मानना चाहिए। हम उसे गुरु की कृपा अथवा शासन की कृपा मानकर शिरोधार्य करें। हम सोचें कि यह हमारा सौभाग्य है। उससे भी उत्तम बात है, व्यक्ति स्वयं सेवा के लिए निवदेन करे। कहने पर सेवा करे, वह तो ठीक है, पर चलाकर स्वयं कहे कि मुझे सेवा का मौका दें, यह ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात होती है। सेवा की भावना व्यक्त करने से निर्जरा का लाभ भी मिलेगा और संघीय भावना भी अभिव्यक्त हो सकेगी, इसलिए सेवा के प्रति भी जागरूकता और निष्ठा बनी रहनी चाहिए।

हम हमारे प्रत्येक कार्य में व्यक्तिगत नाम की आकांक्षा न रखें, तेरापंथ शासन की महिमा बढ़ाने का प्रयास करें। कहीं भी जाएं, कहीं भी रहें, शासन के साथ हमारा तार हमेशा जुड़ा रहे। हमारे साधु-साध्वियों में आज्ञा के प्रति जो निष्ठा है, वह प्रशंसनीय है। साधु-साध्वियों में ही नहीं, समण-समणियों में भी मुझे आज्ञा के प्रति निष्ठा का भाव दृष्टिगोचर होता है। साधु-साध्वियां, समण-समणियां कहीं भी रहें, वे आज्ञा की रस्सी से बंधे हुए रहते हैं, जैसे पतंग डोर से बंधा हुआ रहता है। जिस प्रकार पतंग की डोर को खींचकर पतंग को ऊपर से नीचे अथवा पास में लाया जा सकता है और डोर के सहारे पतंग को दूर भी संप्रेषित किया जा सकता है, उसी प्रकार हमारे साधु-साध्वियां, समण-समणियां भी एक आज्ञा की डोर के आधार पर कहां से कहां तक चले जाते हैं और निर्देश मिलते ही गुरुचरणों में उपस्थित हो जाते

हैं। इस प्रकार आज्ञानिष्ठा भी संघनिष्ठा का एक अंग है।

राजा के मुकुट में उन मणियों को स्थान मिलता है, जो शान अथवा कसौटी पर खरे उतरते हैं, उसी तरह जो साधु-साध्वियां गुरु के डांटने पर भी विनय का भाव रखते हैं, वे कसौटियों पर खरे उतरते हैं। संघ में उनका महत्त्व बढ़ता है। संघ में यदाकदा उनका सम्मान भी किया जा सकता है, इसलिए गुरुओं के उपालम्भ को कभी अन्यथा नहीं लेना चाहिए, मन में मलिनता का भाव नहीं लाना चाहिए। उसको तो प्रसाद मानकर स्वीकार करना चाहिए और अपनी गलती का परिष्कार करने का प्रयास करना चाहिए।

शासन के लिए जरूरत हो तो हमें प्राण भी देने के लिए तैयार रहना चाहिए। हालांकि प्राण की जरूरत तो नहीं पड़ती, परन्तु संकल्प का बल चाहिए, सेवा की भावना चाहिए। शासन को जरूरत है तो हम शासन की सेवा के लिए तैयार है, ऐसा हमारा समर्पण का भाव शासन और शासनपति के प्रति बना रहना चाहिए। न केवल साधु-साध्वियों के लिए, श्रावक-श्राविकाओं के लिए भी यह बात ध्यातव्य है कि उन्हें भी शासन की सेवा के लिए तैयार रहना चाहिए और शासनपति का जो इंगित मिले, जो निर्देश मिले, उसको कहीं कोई चुनौती देने का साहस नहीं करना चाहिए। कोई बात हो तो उसे निवेदित की जा सकती है। निवेदन करना कोई बुरा नहीं है। निवेदन के बाद जो Final Decision शासन अथवा शासनपति का हो, उसे शिरोधार्य करना चाहिए। वह अपने आपमें विशिष्ट होता है। शासनपति से लेकर श्रावक-श्राविका तक सबके लिए यह वांछनीय है कि हम सभी के मन में शासन के प्रति समर्पण और निष्ठा की भावना पुष्ट बनी रहे।

प्रश्न : पूज्यवर ने फरमाया कि संघ सर्वोपरि है। मेरा प्रश्न है कि कुछ व्यक्ति संघ में तो हैं, किन्तु उनके मन में संघ के प्रति निष्ठा नहीं है तो क्या वह स्थिति उनके विकास में बाधक बनती है?

उत्तर : जो व्यक्ति संघ में हैं, उनके लिए यह शोभास्पद होता है कि उनके मन में संघनिष्ठा हो, लेकिन संघनिष्ठा सबके मन में एक समान नहीं होती है, उसमें तारतम्य हो सकता है। एक साधु में जैसी संघनिष्ठा

है, वैसी संघनिष्ठा दूसरे साधु में भी हो, यह जरूरी नहीं है। हमारी प्रेरणा और प्रयास यह रहना चाहिए कि उनमें संघनिष्ठा परिपुष्ट बने। जिनमें संघनिष्ठा नहीं है, केवल छलना है, उनके विषय में गुरु को निवेदन कर देना चाहिए कि उनकी श्रद्धा समीचीन नहीं है। केन्द्र को निवेदित कर निश्चिन्त बन जाना चाहिए। फिर क्या करना है, यह गुरु जाने।

प्रश्न : किसी की आस्था संघ के प्रति तो है, किन्तु गुरु के प्रति नहीं है तो क्या वह उचित है?

उत्तर : यदि संघ के प्रति आस्था है तो मानना चाहिए कि साठ प्रतिशत कार्य हो गया। अब रही बात चालीस प्रतिशत आस्था की। उसके लिए गुरु को निवेदन कर देना चाहिए। गुरु उनके साथ बात करें और पूछें कि किस कारण से उनके मन में आस्था नहीं है? ऐसा तो हो सकता है कि सभी आचार्यों के प्रति समान श्रद्धा न भी हो। जो नैकट्य एक गुरु से होता है, वैसा नैकट्य सभी गुरुओं के साथ न भी हो, किन्तु यह एक आचार्य केन्द्रित धर्मसंघ है, इसलिए वर्तमान आचार्य के प्रति निष्ठा का होना तो आवश्यक है।

प्रश्न : तेरापंथ एक सुसंगठित संघ है। हमें इस बात का गौरव है कि इसका इतिहास अत्यन्त उज्ज्वल है। लेकिन कभी-कभी जो लोग संघ से बहिर्भूत हो जाते हैं, उनके प्रति कुछ लोग यह कहें कि अलग हो गए तो क्या हुआ, साधना तो करते ही हैं। क्या इस तरह की दोहरी आस्था संघ के व्यक्तियों में होनी चाहिए? इसी प्रकार जो बहिर्भूत व्यक्तियों की गतिविधियों में सहयोग करते हैं, क्या उनकी संघनिष्ठा भी संशय के घेरे में नहीं आ जाती?

उत्तर : संघ से जो मुक्त हो गए हैं या मुक्त कर दिए गए हैं, वे साधना करें, हमारी उनके प्रति मंगलकामना है। उनकी साधना अच्छी चले, वे राग-द्वेष मुक्त रहें, परन्तु संघ के सदस्य उनको प्रश्रय न दें। प्रश्रय देने का मतलब है उनके कार्यक्रमों में भाग लेना, उनकी संस्थाओं में

पदाधिकारी बनना, उनके ट्रस्ट आदि को अनुदान आदि देना और उनके पास जाने का प्रयास करना, बार-बार उनसे मिलने की चेष्टा करना, उनके साथ दिल खोलकर बातें करना आदि। हालांकि हमारा उनसे कोई द्वेष नहीं है, परन्तु संघ की ओर से उनको महत्त्व नहीं देना चाहिए। विशेष रूप से श्रावक-श्राविकाओं को उनके स्थान पर जाकर ठहरना नहीं चाहिए। उनके पास जाना ही नहीं चाहिए। केन्द्र के द्वारा कोई निर्देश हो और वहां जाना पड़े तो अलग बात है। कभी वे घर में आ जाएं तो उन्हें भोजन देने की ना नहीं है, परन्तु जो संघ के साधुओं के प्रति भावना होती है, वह भावना उनके प्रति नहीं रखनी चाहिए। जो संघ से मुक्त हैं, उनको तिक्खुत्तो से वन्दना भी नहीं करनी चाहिए।

हम सिद्धांत को समझने का प्रयास करें। हमारे साधु-साध्वियां एक गुरु की आज्ञा में चलने वाले हैं। कभी उनके मन के प्रतिकूल निर्णय भी कर दिया जाता है, फिर भी वे मन की भावनाओं को न्यौछावर करके गुरु की आज्ञा को महत्त्व देते हैं, शासन की मर्यादा में रहते हैं। जो आज्ञा से मुक्त हैं, वे स्वतंत्र हैं। अपनी इच्छा से सारे कार्य संपादित करते हैं। कितना बड़ा अन्तर है दोनों में, इसलिए संघ से जो मुक्त हैं, उनको प्रश्रय नहीं देना चाहिए और श्रावक-श्राविकाओं को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उनको अनुदान भी नहीं देना चाहिए। कोई भूखा हो तो रोटी दे दी कोई दिक्कत की बात नहीं है, पर अनुदान देकर उनको महत्त्व नहीं देना चाहिए। यह हमारी स्पष्ट नीति है कि टालोकर से दूर रहना चाहिए। अन्य सम्प्रदाय के मुनियों के पास कभी मौके पर चले भी जाएं तो वह कोई खास बात नहीं है, पर जो संघ से मुक्त हो गए हैं, उनसे ज्यादा परहेज रखना चाहिए। यह हमारा चिन्तन है।

प्रश्न : जो संघ से मुक्त हो चुके हैं, उनको प्रश्रय नहीं देना चाहिए। फिर भी कोई व्यक्ति उनको प्रश्रय दे तो संघ का उस व्यक्ति के साथ क्या व्यवहार होना चाहिए?

उत्तर : कोई उनको प्रश्रय दे तो उसे समझाएं कि ऐसा करना ठीक नहीं है। उसके बाद भी कोई ध्यान न दे तो ऐसे व्यक्ति को संघ की संस्थाओं में स्थान नहीं मिलना चाहिए। वह न तो सभा का अध्यक्ष बने, न मंत्री बने। इस प्रकार उसकी उपेक्षा करनी चाहिए, किन्तु पहले प्रयास हम यही करें कि उसको समझाएं। पहले श्रावक समझाएं, साधु समझाएं, फिर हमारे पास लाएं, हम उसको समझाएंगे। या तो वह समझाने से मान जाएगा, नहीं माने तो अन्तिम कदम यहां तक उठाया जा सकता है कि ऐसे व्यक्ति को संघ का सदस्य ही न माना जाए।

प्रश्न : जो व्यक्ति वर्तमान में संघ से अलग हो चुके हैं, किन्तु संघ में रहते समय जिन्होंने संस्कृत साहित्य आदि का निर्माण किया था। क्या हम उनके साहित्य का अध्ययन कर सकते हैं? उनके प्रति प्रमोद भावना रखना क्या संघनिष्ठा पर प्रश्नचिह्न है?

उत्तर : संघ से बहिर्भूत व्यक्तियों की विशेषताओं के प्रति हमारे मन में प्रमोद भावना रहनी चाहिए, पर यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि उन्होंने एक कदम ऐसा उठा लिया, जिससे उनकी विशेषताओं पर पटाक्षेप हो गया। जहां तक साहित्य का प्रश्न है, संघ से मुक्त व्यक्तियों के गीतों, मुक्तकों आदि को काम में नहीं लेना चाहिए और न उनको महत्त्व देना चाहिए। जिस साहित्य के लिए वर्तमान आचार्य का निषेध न हो, वह साहित्य पढ़ा जा सकता है।

प्रश्न : कुछ लोग अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों को महत्त्व देते हैं, बड़े स्तर पर उनका कार्यक्रम आयोजित करते हैं, उसका पूरा खर्चा भी उठाते हैं, प्रभावना भी बंटाते हैं, साहित्य भी घर-घर में भेजते हैं तो क्या यह सब संघनिष्ठा के साथ गद्दारी नहीं है?

उत्तर : कोई अन्य सम्प्रदाय के आचार्य आएं और तेरापंथी समाज के लोग भी उनके सामने अथवा उनके स्वागत में जाएं तो मैं इसे कोई बुरी बात नहीं मानता, पर हमारी एक गुरु की निष्ठा में कभी कमी नहीं आनी चाहिए। उदाहरण के लिए, जैसे एक पतिव्रता औरत किसी

अन्य पुरुष से बात कर ले, किसी का काम भी कर दे, पर मन में जानती है कि मेरा पति तो वही है। इसी तरह एक संघनिष्ठ व्यक्ति किसी अन्य के स्वागत में भी चला जाए अथवा कोई सहयोग भी कर दे, परन्तु उसके मन में यही रहे कि हमारा संघ तो तेरापंथ है। इस निष्ठा में कभी कमी नहीं आनी चाहिए। हमें अव्यावहारिक भी नहीं बनना है, इसलिए व्यवहार को निभाते हुए हमारी मूल निष्ठा दृढ़ रहे।

प्रश्न : तेरापंथ-भवन में अथवा तेरापंथी घरों में इतर सम्प्रदाय के साधु-साध्वी रहते हैं तो तेरापंथी आचार्यों की फोटो को उल्टी करवा देते हैं अथवा कोई लाल कपड़ा ढ़कवा देते हैं। क्या यह उचित है?

उत्तर : श्रावक समाज की दिशा निर्देशिका में यह लिखित निर्देश दिया हुआ है कि अन्य सम्प्रदाय के आचार्य या साधु-साध्वियां कोई भी ठहरें तो स्थान देने की मना नहीं है, पर आचार्यों की फोटो को आवृत्त करना अथवा उनको उतारना स्वीकार नहीं करना चाहिए।

प्रश्न : किसी श्रावक-श्राविका को तात्कालीन विशेषताओं के कारण आचार्यश्री द्वारा या सभा संस्था द्वारा कोई सम्मान, अलंकरण दिया गया है, किन्तु वह आज उसके विपरीत आचरण कर रहा है तो क्या वर्तमान में उस सम्बोधन के साथ उसके नाम को उल्लिखित करना चाहिए और क्या इस मंच पर उनको स्थान मिलना चाहिए?

उत्तर : इस सन्दर्भ में दो बातें हैं। पहली बात तो यह है कि उस समय की विशेषता को ध्यान में रखकर व्यक्ति को अलंकरण दिया गया था, किन्तु आज वह संघ-विमुख है तो दी गई चीज वापस भी ली जा सकती है। दूसरी बात है, जो संघ-विमुखता की बातें करने वाला है, उसको मंच पर स्थान नहीं दिया जाना चाहिए।

प्रश्न : टालोकर का फोटो घर में लगाना चाहिए या नहीं?

उत्तर : उसका फोटो न घर में लगाना चाहिए, न मन में लगाना चाहिए।

प्रश्न : जो संघ से बहिर्भूत हो गया है, किन्तु अभी भी उसी वेशभूषा को अपनाए हुए है। दूसरे लोगों को यह पता ही नहीं चलता कि यह तेरापंथ धर्मसंघ से जुड़ा हुआ है या नहीं। उसके आचरण से हमारे धर्मसंघ की प्रभावना में कमी आती है। लोगों को हम किस तरह बताएं कि वह संघ में नहीं है?

उत्तर : देश, काल देखकर अपेक्षा लगे तो स्थानीय समाचार-पत्र आदि के माध्यम से जानकारी दी जा सकती है कि यह व्यक्ति हमारे संघ से अलग है।

आचार्य महाश्रमण : एक परिचय

आचार्य महाश्रमण उन महान संत-विचारकों में से एक हैं जिन्होंने आत्मा के दर्शन को न केवल व्याख्यायित किया है, अपितु उसे जीया भी है। वे जन्मजात प्रतिभा के धनी, सूक्ष्मद्रष्टा, प्रौढ़ चिंतक एवं कठोर पुरुषार्थी हैं। उनकी प्रज्ञा निर्मल एवं प्रशासनिक सूझबूझ बेजोड़ है। एक विशुद्ध पवित्र आत्मा जिनके कार्यों में करुणा, परोपकारिता एवं मानवता के दर्शन होते हैं तथा जिनकी विनम्रता, सरलता, साधना एवं ज्ञान की प्रौढ़ता भारतीय ऋषि परम्परा की संवाहक दृष्टिगोचर होती है।

१३ मई, १९६२ को राजस्थान के एक कस्बे सरदारशहर में जन्मे एवं ५ मई, १९७४ को दीक्षित हुए आचार्य महाश्रमण अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ की परम्परा में तेरापंथ धर्मसंघ के ११वें आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

अध्यात्म, दर्शन, संस्कृति और मानवीय चरित्र के उत्थान के लिए समर्पित आचार्य महाश्रमण आर्षवाणी के साथ अध्यात्म एवं नैतिकता, अनुकंपा और परोपकार, शांति और सौहार्द जैसे मानवीय मूल्यों एवं विषयों के प्रखर वक्ता हैं।

वे एक साहित्यकार, परिव्राजक, समाज सुधारक एवं अहिंसा के व्याख्याकार हैं। आचार्य महाप्रज्ञ के साथ अहिंसा यात्रा के अनन्तर आपने लाखों ग्रामवासियों एवं श्रद्धालुओं को नैतिक मूल्यों के विकास, साम्प्रदायिक सौहार्द, मानवीय एकता एवं अहिंसक चेतना के जागरण के लिए अभिप्रेरित किया।

'चरैवेति-चरैवेति' इस सूक्त को धारण कर वे लाखों-लाखों लोगों को नैतिक जीवन जीने एवं अहिंसात्मक जीवन शैली की प्रेरणा देने के लिए पदयात्राएं कर रहे हैं।

अत्यन्त विनयशील आचार्य महाश्रमण अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान एवं अहिंसा प्रशिक्षण जैसे मानवोपयोगी आयामों के लिए कार्य कर तनाव, अशांति तथा हिंसा से आक्रांत विश्व को शांति एवं संयमपूर्ण जीवन का संदेश दे रहे हैं।

शांत एवं मृदु व्यवहार से संवृत्त, आकांक्षा–स्पृहा से विरक्त एवं जनकल्याण के लिए समर्पित युवा मनीषी आचार्य महाश्रमण भारतीय संत परम्परा के गौरव पुरुष हैं।

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रमुख कृतियां

आओ हम जीना सीखें

जीता हर कोई है, किन्तु कलापूर्ण जीना कोई-कोई जानता है। प्रस्तुत पुस्तक में आचार्यश्री महाश्रमण ने कलात्मक जीवन के सूत्रों को प्रकाशित करते हुए जीवन की प्रत्येक क्रिया का व्यवस्थित प्रशिक्षण दिया है। वस्तुतः यह कृति 'कैसे जीएं' इस प्रश्न का सटीक समाधान है।

क्या कहता है जैन वाङ्मय

इस पुस्तक में जैन शास्त्रों में उपलब्ध सफलता के सूत्रों में से चुनिंदा मोतियों को पिरोया गया है। प्रस्तुत कृति आचार्यश्री महाश्रमण के हृदयस्पर्शी प्रवचनों का महत्त्वपूर्ण संग्रह है।

दुःख मुक्ति का मार्ग

आचार्यश्री महाश्रमण ने इस पुस्तक में साधना के रहस्यों को प्रस्तुत किया है। सुख, शांति और आनंद की प्राप्ति में यह कृति मार्गदर्शक की भूमिका अदा करती है।

संवाद भगवान से

प्रतिष्ठित जैनागम उत्तराध्ययन के २९वें अध्ययन पर आधारित इस पुस्तक में भगवान महावीर और उनके प्रमुख शिष्य गौतम के रोचक संवाद के माध्यम से मन में संशय पैदा करने वाले प्रश्नों को विस्तृत रूप में समाहित किया गया है। यह कृति दो भागों में उपलब्ध है।

महात्मा महाप्रज्ञ

युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ तेरापंथ के आचार्य, अनुशास्ता, साहित्यकार और प्रवचनकार थे। इन सबसे पहले वे एक सन्त थे, महात्मा थे, उनकी आत्मा में महानता थी। उनके उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाश्रमण ने उन्हें नजदीकी से देखा और जाना। प्रस्तुत पुस्तक में श्री महाप्रज्ञ के नौ दशकों के इतिहास और रहस्यों को उजागर किया गया है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रस्तुत पुस्तक में जैन तत्त्वज्ञान, साधना के प्रयोगों, महापुरुषों और उनके अवदानों आदि विविध विषयों से संबद्ध उपयोगी और प्रेरणास्पद सामग्री संजोई गई है।

–: प्राप्ति स्थान :–

जैन विश्व भारती

पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६, जिला : नागौर (राज.)

फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१

ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

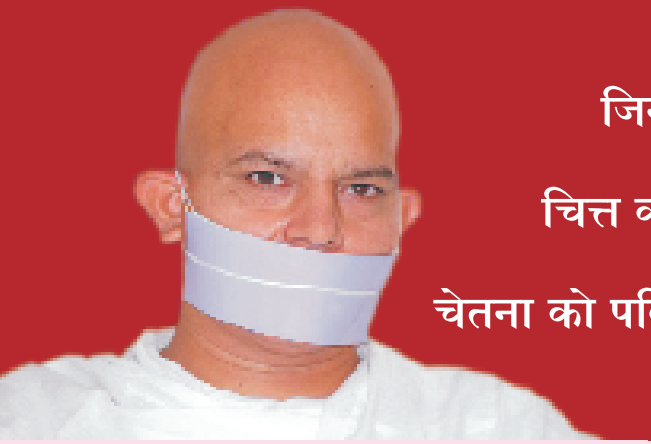

जिनका चिन्तन

चित्त को प्रसन्नता और

चेतना को पवित्रता प्रदान करता है।

भीतर पढ़ें

- सम्यक्त्व का दीया कैसे जलें?
- आदर्श कौन?
- मार्गदर्शक कौन?
- मंजिल तक पहुंचाने वाला पथ
- सम्यक्त्व की पहचान
- सम्यक्त्व के दूषण
- इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं
- संघनिष्ठा का विकास

ISBN 81-7195-218-6

₹ 30.00